कठोपनिषदि
विशिष्टाद्वैतपरकम्
श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)
भाष्यकाराः – जगद्गुरुरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यमहाराजाः चित्रकूटीयाः

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।
।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

कठोपनिषदि
(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)

भाष्यकाराः-
जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यजीमहाराजाः
चित्रकूटीयाः

प्रकाशक :
श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः
तुलसीपीठः, आमोदवनम्
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म० प्र०)

प्रकाशक :

श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः

तुलसीपीठः, आमोदवनम्,
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं–सतना (म० प्र०)
दूरभाष : ०७६७०–६५४७८

✪

प्रथमसंस्करणम् : ११०० प्रतयः

✪

✪

मूल्यम् : १५०.०० रुपया

✪

प्राप्तिस्थानम् :

तुलसीपीठः, आमोदवनम्, चित्रकूटं जनपदं–सतना (म० प्र०)
वसिष्ठायनम्, (रानीगली) जगद्गुरु रामानन्दाचार्य मार्ग, भोपतवाला, हरिद्वार (उ०
श्रीगीताज्ञानमन्दिर, भक्तिनगर सर्कल, राजकोट (गुजरात) पिन– ३६०००२

✪

मुद्रक :

राघव ऑफसेट
बैजनत्था, वाराणसी– १०
फोन : ३२००३९

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

प्रकाशकीयम्

नीलनीरदसंकाशकान्तये श्रितशान्तये ।
रामाय पूर्णकामाय जानकीजानये नमः ।।

साम्प्रतिकबुद्धिजीविवर्गे पण्डितसमाजे च श्रीवैष्णवसत्समाजे को नाम नाभिनन्दति ? पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किकचूडामणिसारस्वत-सार्वभौमपण्डितप्रकाण्डपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीवैष्णवकुलतिलकत्रिदण्डीश्वर-श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यवाचस्पतिमहामहनीयस्वामिरामभद्राचार्य-महाराजराजिष्णुप्रतिभाधनम् । आचार्यचरणैः श्रीसम्प्रदायश्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवानुमोदितविशिष्टाद्वैतवादाम्नायमनुसृत्य ईशावास्यादि बृहदारण्यकान्तानामेका-दशोपनिषदां श्रीराघवकृपाभाष्यं प्रणीय भारतीयसंस्कृतवाङ्मयसनातनधर्मावलम्बिनां कियान् महान् उपकारो व्यधायीति तु निर्णेष्यतीतिहासः सोल्लासः । अस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रकाशनदायित्वं श्रीतुलसीपीठसेवान्यासाय प्रदाय ऋणिनः कृता वयं श्रीमज्जगद्गुरुभिः वयं तेषां सततमाधमर्ण्यभाजः । अहं धन्यवादं दित्सामि साधुवादं च, वाराणसीस्थाय राघव ऑफसेट मुद्रणालयाध्यक्षाय चन्दनेशाय श्रीविपिनशंकरपाण्ड्यामहाभागाय, येन महता परिश्रमेण निष्ठया च गुरुगौरवेण जनताजनार्दनकरकमलं समुपस्थापितं ग्रन्थरत्नमेतत् । अहमाभारं बिभर्मि सकल-शास्त्रनिष्णातानां पण्डितप्रवराणां मुद्रणदोषनिराकरणचञ्चुनां जगद्गुरुवात्सल्यभाजनानां परमकुशलकर्मणां पं० प्रवर श्रीशिवरामशर्मणाम् पं० कृपासिन्धुशर्मणाम् च ।

अन्ततः साग्रहं निवेदयामि सर्वान् विद्वत्प्रवरान्, यत्—

ग्रन्थरत्नमिदं मत्वा सीताभर्तुरनुग्रहम् ।
निराग्रहाः समर्चन्तु रामभद्रार्यभारतीम् ।।

इति निवेदयते

राघवीया

कु० गीता देवी

प्रबन्धन्यासी, श्रीतुलसीपीठसेवान्यासस्य

श्रीराघवाष्टकम्

निशल्या कौसल्या सुखसुरलतातान्तिहृतये ।
यशोवारां राशेरुदयमभिकाङ्क्षन्निव शशी ।
समञ्चन् भूभागं प्रथयितुमरागं पदरतिम् ।
तमालश्यामो मे मनसि शिशुरामो विजयते ।।१।।

क्वचित् क्रीडन् व्रीडाविनतविहगैर्वृन्दविरुदो ।
विराजन् राजीवैरिव परिवृतस्तिग्मकिरणः ।
रजोवृन्दं वृन्दाविमलदलमालामलमलम् ।
स्वलङ्कुर्वन् बालः स इह रघुचन्द्रो विजयते ।।२।।

क्वचिन् माद्यन् माद्यन् मधुनवमिलिन्दार्यचरणा- ।
म्बुजद्वन्द्वो द्वन्द्वापनयविधिवैदग्ध्यविदितः ।
समाकुञ्चत् केशैरिव शिशुघनैः संवृतमिव ।
विधुं वक्त्रं विभ्रन् नरपतितनूजो विजयते ।।३।।

क्वचित् खेलन् खेलन् मृदुमरुदमन्दाञ्चलचल- ।
च्छिरः पुष्पैः पुञ्जैर्विबुधललनानामभिचितः ।
चिदान्दो नन्दन् नवनलिननेत्रो मृदुहसन् ।
लसन् धूलीपुञ्जैर्जगति शिशुरेको विजयते ।।४।।

क्वचिन् मातुः क्रोडे चिकुरनिकरैरंजितमुखः ।
सुखासीनो मीनोपमदृशिलसत्कज्जलकलः ।
कलातीतो मन्दस्मितविजितराकापतिरुचिः ।
पिबन् स्तन्यं रामो जगति शिशुहंसो विजयते ।।५।।

क्वचिद् बालो लालालसितललिताम्भोजवदनो ।
वहन् वासः पीतं विशदनवनीतौदनकणान् ।

विलुण्ठन् भूभागे रजसि विरजा सम्भृत इव।
तृषा ताम्यत्कामो भवभयविरामो विजयते ॥६॥

क्वचिद् राज्ञो हर्षं प्रगुणयितुकामः कलगिरा।
निसिञ्चन् पीयूषं श्रवणपुटके सम्मतसताम्।
विरिंगन् पणिभ्यां वनरुहपदाभ्यां कलदृशा।
निरत्यन् नैरारश्यं नवशशिकरास्यो विजयते ॥७॥

क्वचिन् नृत्यन् छायाछ्पितभवभीतिर्भवभवो।
दधानोऽलंकारं विगलितविकारं शिशुवरः।
पुरारातेः पूज्यः पुरुषतिलकः कन्दकमनः।
अयोध्यासौभाग्यं गुणितमिहरामो विजयते ॥८॥

जयत्यसौ नीलघनावदातो।
विभा विभातो जनपारिजातः।
शोभा समुद्रो नरलोकचन्द्रः।
श्रीरामचन्द्रो रघुचारुचन्द्रः ॥९॥

ईशावास्यसमारब्धाः बृहदारण्यकान्तिमाः।
ऐकादशोपनिषदो विशदाः श्रुतिसम्मताः ॥१०॥

श्रीराघवकृपाभाष्यनाम्ना भक्तिसुगन्धिना।
पुण्यपुष्पोत्करेणेड्याः मया भक्त्या प्रपूजिताः ॥११॥

क्वचित्क्वचित् पदच्छेदः क्वचिदन्वययोजना।
क्वचिच्छास्त्रार्थपद्धत्या पदार्थाः विशदीकृताः ॥१२॥

खण्डनं परपक्षाणां विशिष्टाद्वैतमण्डनम्।
चन्दनं वैष्णवसतां श्रीरामानन्दनन्दनम् ॥१३॥

श्रीराघवकृपाभाष्यं भूषितं सुरभाषया।
भाषितं भव्यया भक्त्या वेदतात्पर्यभूषया ॥१४॥

प्रमाणानि पुराणानां स्मृतीनामागमस्य च।
तथा श्रीमानसस्यापि दर्शितानि स्वपुष्टये ।।१५।।

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दञ्चेति यथास्थलम्।
प्रमाणत्रितायं ह्यत्र तत्वत्रयविनिर्णयम्।।१६।।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तदर्पणं श्रुतितर्पणम्।
अर्पणं रामभद्रस्य रामभद्रसमर्पणम्।।१७।।

यदि स्युः त्रुटयः काश्चित्ताः ममैवाल्पमेधसः।
यदत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यं तच्छ्रीरामकृपाफलम्।।१८।।

रुद्रसंख्योपनिषदां मया भक्त्या प्रभाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्यं शीलयन्तु विमत्सराः।।१९।।

इति मंगलमाशास्ते
श्रीवैष्णवविद्वत्प्रीतिवशंवदो राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्यो स्वमिरामभद्राचार्यः
अधिचित्रकूटम्।

●

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

उपोद्घात

संजातं मानवाकारं वैवस्वतमनोकुले।
वैवस्वतभयघ्नं च श्रये सीतापतिं हरिम् ।।

कठोपनिषद् उपनिषद् में बहुचर्चित एवं सर्वमान्य है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियाँ हैं। नचिकेंता द्वारा पिता की आज्ञा का पालन शास्त्रीय मर्यादानुपालन के साथ एक साहसिक प्रयोग होते हुए भी वैदिक सिद्धान्त का अनूठा उदाहरण भी है। इसमें नचिकेता एवं यमराज के माध्यम से जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद-सहिष्णु शाश्वत सम्बन्धों की चर्चा की गई है। इस उपनिषद् की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें संसार में रहकर भी परमार्थ साधना का बहुत ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। इस उपनिषद् पर श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव सम्मत विशिष्टाद्वैत पर श्रीराघवकृपाभाष्य की रचना करके मैंने यथासम्भव संस्कृत और हिन्दी में सिद्धान्तों को समझाने का एक शास्त्रीय प्रयास किया है। मुझे विश्वास है कि कठोपनिषद् पर मेरे द्वारा किया हुआ श्रीराघवकृपाभाष्य विवरण उपनिषद् प्रेमियों के लिये सरल एवं सुगम पाथेय सिद्ध होगा।

।। इति मंगलमाशास्ते
तुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य चित्रकूट ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर
जगद्गुरू रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रसथानत्रयी भाष्यकार धर्मचक्रवर्ती अनन्तश्री समलंकृत

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आविर्भाव

आपका अविर्भाव १४ जनवरी १९५० तदनुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वसिष्ठ गोत्रीय उच्च धार्मिक सरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र आत्मदर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने वाले दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा, देशभक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी माँ को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की संपदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवत् कृपा से किसी विरली माँ को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरूप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमती शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्रीराजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं परिजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाएँ अद्भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बाँटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व संकेत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई कि

यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्य वर के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महीने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आँखों को रोहुआ रोग रूपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्मनेत्र बन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत् के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बित होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवत् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तर्मुखता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधाशक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक, कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कण्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्यश्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत् सूर्यबली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमबद्ध पंक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ कर ली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेड़ पर बिठाकर आपको एक-एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृत्ति करा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठस्थ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानससरोवर के राजहंस बन कर श्रीसीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की

दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्माणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्यश्री का वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्रीईश्वरदास जी महाराज जो अवध-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपमें श्रीरामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्रीय प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति में पाँच पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किये।** १९७६ वाराणसी साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातु परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंहगर्जनपूर्वक तत्कालीन विद्वान् मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं०वि०वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष

पं० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे अपणिनीयप्रयोगाणां विमर्श:' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर ''अष्टाध्याय्या: प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा'' इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत् की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पति'' (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्ग्रन्थों के अनुशीलन ने आचार्य-चरण को पूर्व से ही श्री सीतारामचरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम-पावन दिवस को श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आचार्यश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्रीरामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय वहाँ के सभी सन्त-महान्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तद्नुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद् एवं अन्य सन्तमहान्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पर पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्रीमहन्तों चतु:सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुनकर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामस्वरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, भागवद्‌गीता,शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्तामलकवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वसिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्रीराघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद को अलंकृत करते हुए भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करुणा, श्रीराम-प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक! **आप अपनी विलक्षणकथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्यशास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकारपूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान् श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति हैं। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्यनिष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन-जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रद्धालु श्रोताओं को अवगाहन कराते रहते हैं।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज को दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणि! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित हैं।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये। काव्य, लेख, निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्यश्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व से श्रीराम-प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहस्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्मपीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यश:सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे हैं। तब कहना पड़ता है कि—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।।

❀ ❀ ❀

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।।

धर्माचार्य परम्परा :–

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही है कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पूज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित **'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण** समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर रामानन्दीय श्रीवैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्यश्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरणम् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग-१-२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुञ्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति-गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्रीनारदभक्तिसूत्रेषु राघवकृपाभाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
२०. आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभु करि कृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संस्कृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (क) आर्याशतकम् (ख) सीताशतकम्
(ग) राघवेन्द्रशतकम् (घ) मन्मथारिशतकम् (ङ) चण्डिशतकम्
(च) गणपतिशतकम् (छ) चित्रकूटशतकम् (ज) राघवचरणचिह्नशतकम्
३. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि
६. कवित्त भाण्डागारम् (हिन्दी)

●

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपादपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकः समस्त-वैष्णवालंकारभूताः आर्षवाङ्मयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहितगम्भीरतत्वान्वेषण-तत्पराः पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाः सांख्ययोगन्यायवैशेषिकपूर्वमीमांसावेदान्तनारद-शाण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायणः भागवतादिसिद्धान्तबोधपुरःसरसमधि-कृताशेषतुलसीदाससाहित्य-सौहित्यस्वाध्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणाः सनातनधर्म-संरक्षणधुरीणाः चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षणविचक्षणाः अनाद्यविच्छिन्नसद्गुरु-परम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्तिभागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसाः श्रीमद्रामचरित-मानसराजमरालाः सततं शिशुरूपराघवलालनतत्पराः समस्तप्राच्यप्रतीच्यविद्या-विनोदितविपश्चितः राष्ट्रभाषागीर्वाणगिरामहाकवयः विद्वन्मूर्धन्याः श्रीमद्रामप्रेम-साधनधनधन्याः शास्त्रार्थरसिकशिरोमणयः विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिनः परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्याः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीचित्रकूटस्थ-मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिनः श्रीतुलसीपीठाधीश्वराः श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्याः अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्यमहाराजाः विजयतेतराम् ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

कठोपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-कवितार्किकचूडामणि-वाचस्पति-
जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामि-रामभद्राचार्य-प्रणीतं,
श्रीमज्जगद्गुरु-रामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि-
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम् ।।

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।
।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

कठोपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

मंगलाचरणम्

जयति जनसुखापो भानुकोटिप्रतापः,
करधृतशरचापो भग्नभक्तत्रितापः,
दशरथयुवराजः सच्चकोरोडुराजो,
जलदरूचिररामो ब्रह्मसीताभिरामः ।।१।।

तं चिन्तये चिन्तकपारिजात–
चिन्तामणिं चिन्मयमद्वितीयम् ।
कौशल्यया चुम्बितपङ्कजास्यम्,
रामं शिशुं राघवमब्जनेत्रम् ।।२।।

नमो वैवस्वतायास्मै, धर्माचार्याय धीमते,
यश्चात्मविद्यया बन्धान्नचिकेतस मूमुचत् ।।३।।

सुशीला यं देवी भरतमनघं स्वीयजठरे
दधौ दध्यौ जग्यौ जगदिदमशेषं हरितनुम् ।
य एको ह्याचार्यो गुरुरमितबोधस्त्रिजगतां
बुधो रामानन्दो जयति जगतीभूषणमलम् ।।४।।

नत्वा श्रीहुलसीपवित्रजठरक्षीराब्धिजन्यं विधुम्
विघ्नध्वान्तमहान्धकारदलने चण्डांशुमूर्जस्विनम् ।
सीतारामपदाम्बुजातविलसद्रोलम्बडिम्भं कविं
भाषे भाष्यमहं कठोपनिषदः श्रीराघवप्रीतये ।।५।।

उपोद्घातः—

सुविदितमेतत् प्रज्ञावतां यद् वैदिके वाङ्मये कठोपनिषदियं परमां प्रसिद्धिं गता। दार्शनिकजिज्ञासूनामन्येषाञ्च आर्षग्रन्थसमादरवतां श्रद्धाभाजनमिदम् । इयं खलु कृष्णयजुर्वेदस्य कठशाखायां पठ्यते, अतः कठनाम्नैव कठोपनिषदिति व्यवह्रियते। अस्यां यमनचिकेत:संवादच्छलेन आत्मनः सुगम्भीरं तत्वविवेचनं विजृम्भते। अत्रोपनिषद्यात्मशब्दः किममिधेय इत्यत्र विप्रतिपद्यन्ते आचार्याः । तार्किका आत्मानं द्रव्यं मत्वा तज्जातिपरिकल्पनया आत्मशब्दस्य जीवात्मपरमात्मरूपावर्थौ स्वीकुर्वन्ति। आचार्यशंकरः आत्मशब्देन प्रत्यगात्माभिन्न चैतन्यं मन्यते । वयं च श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यपदानुगाः आत्मशब्दस्य श्रीरामाभिधानं परमात्मानमेवामिधेय– मभिदध्महे । यद्यप्यस्याः अनेकानि भाष्याणि समभाष्यन्त तथैवाहमपि विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तानुसारं श्रीराघवकृपासम्बलः श्रीराघवकृपाभाष्येण इमां समलङ्चिकीर्षामि।

अस्यामुपनिषदि द्वावध्यायौ, प्रत्येकस्मिन् वल्लीत्रयं नचिकेतोयमसम्वादच्छलेन आत्मानात्मभेदपुर:सरं सततं भगवतो दासभूतस्य प्रत्यगात्मतत्वस्य सुगभीरविवेचनं, ततस्तत्स्वाभिभूतस्य परमात्मनः सुगहनं निरूपणं, प्रत्यगात्मपरमात्मनोर्मध्ये स्वरूपतो द्वैतसम्बन्धतश्चाद्वैतमिति तत्र तत्र यथावसरं श्रीराघवकृपालब्धविवेकेन यथाकालं स्फुटयिष्यामः । इदमत्र ज्ञेयं यत् श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यनये विशिष्टाद्वैतवादे त्रयो निर्विवादविषयाः ज्ञातव्याः स्वामित्वेन सेव्यत्वेन च श्रीसीतारामाभिधब्रह्मरूपं परमात्मतत्वं, सेवकत्वेन सकलशरीराध्यक्षत्वेन प्रत्यगात्मतत्वं, तयोर्मध्यवर्ती सेव्यसेवकभावरूपः सम्बन्धश्च। एतस्यैव प्रपञ्चोऽर्थपञ्चकः, एतत्त्रयज्ञानं प्रकारान्तरेण प्रमाणयति प्राञ्जलिः पतञ्जलिः पश्पशाह्निके महाभाष्यस्य **सिद्धे शब्दार्शसम्बन्धे** । ननु किमनेन व्याकरणमहाभाष्योदाहरणेन ? मैवं वोचः, **काणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्** इत्याभियुक्तोक्तेः सर्वशास्त्रोपकारकत्वाच्छब्दशास्त्रस्य तन्महाभाष्योदाहरणस्य वेदान्तनयेऽप्युपयोगौचित्यात् । तत्र सिद्धशब्दस्य नित्यार्थकतया स्वीकृतत्वात् शब्दार्थसम्बन्धेषु नित्यता प्रमाणिता महामुनिना । अत्रापि सा रीतिरनुसन्धेया तथा विशिष्टाद्वैतवादे दासभूतः प्रत्यगात्मा नित्यः **जीवभूतः सनानतः** इति स्मृतेः । तथैव तत्स्वामी परमात्मापि नित्यः **सनातनस्त्वं पुरूषो मतोमे** इति स्मृतेः । एवं प्रत्यगात्मपरमात्मप्रतियोगिकानुयोगिकसेवकसेव्यभावसम्बन्धोऽपि नित्य एव । अथ द्वयो:सम्बन्धनित्यतायां किंमानमिति चेत् वाल्मीकिरामायणवचनमेव। **सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः** इतिः तत्र रामायणे नारदवचनम् (वाल्मीकि रामा०

बाल. १-१६) अथ प्रत्यगात्मपरमात्मतत्सम्बन्धज्ञेयत्वे तदितराज्ञेयत्वे च का विनिगमना भवदाचार्य सम्मता ? इति चेत् श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यप्रविधेय श्रीतुलसीदासवचनमेव प्रमाणम् । तद्यथा-

हम लखि लखहिं हमार लखि, हम हमार के बीच ।
तुलसी अलखहि का लखहि, राम नाम जपु नीच ।।

(दोहावली १९)

अत्र **हम** पदेन अहं पदवाच्यः प्रत्यगात्मचैतन्यरूपो जीवात्मा **'हमार'** पदेन सर्वेषामात्मीयत्वात् अस्मदीयं परमात्मतत्वं श्रीरामब्रह्म **'हम हमार के बीच'** पदेन अस्मदस्मदीययोर्मध्यवर्तिसेवकसेव्यभावसम्बन्धः । गोस्वामि तुलसीदासमहाराजानां भावोऽयं यत्—''प्रागहं लक्षयित्वाथ लक्षयित्वास्मदीयकं तन्मध्यवर्तिसम्बन्धं दास्यभावं हि लक्षय'' । अलक्षलक्षणेनैव को लाभो लप्स्यते त्वया तस्मान्नीच! हठं त्यक्त्वा रामनाम सदा जप । इत्थं निर्णीतानां प्रत्यगात्मपरमात्मतन्निष्ठसम्बन्धानां ज्ञापकतया कठोपनिषदियं कल्पते महतामुपयोगाय तस्मादहमपि एतन्निरूपणे निजमनीषां प्रवर्तये । तत्र प्रथमं शान्तिपाठः—

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ नौ सह अवतु, नौ सह भुनक्तु, (आवाम्) वीर्यम् सह करवाहै, नौ अधीतम् तेजस्वि अस्तु, मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

अत्र शान्तिपाठमन्त्रे गुरूशिष्ययोः सामञ्जस्यपूर्वकमङ्गलं कामयमान आचार्यः परमात्मानं प्रार्थयते । ॐ निखिलचराचररक्षकः सकलप्राणीप्साविषयः गुणातीतः परमेश्वरः ओंकारवाच्यः नौ, आवां गुरुशिष्यौ सह, साकमेव अवतु, विपद्भ्यस्त्रायताम्, त्राणक्रियायां पार्थक्यं नापेक्षते इति भाव : । नौ, आवामाचार्यशिष्यौ सह, सार्धं भुनक्तु पालयतु, पालनेऽपि यौगपद्यम् । आवामाचार्यदेशिकौ सह, युगपदेव वीर्यम्, अध्ययनपराक्रमं विज्ञानबलं वा करवावहै, आविष्करवावहै ज्ञानाविष्कारणे नो वैमत्यं स्यात् इति भावः। नौ आवयोः उपाध्यायच्छात्रयोः अधीतं, शास्त्राध्ययनं तेजस्वि, अविद्यातिमिरविनाशकबोधसूर्यतेजोमयमस्तु, भवतु । मा विद्विषवहै, कदापि विद्वेषं मा करवावहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः । परमेश्वरकृपया तापत्रयशमनं भवतु । अत्र मन्त्रे पञ्चधा कल्याणं कामयमानो देशिकः पञ्चषु प्रयत्ताषु क्रियासु पञ्चकृत्वः प्रार्थनायां लिङ् लकारं प्रायुङ्क्त ।

।।कठोपनिषद् प्रथमाध्याये प्रथमवल्ली ।।

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ।।१।।

ॐ ह वै वाजश्रवसः उशन् सर्ववेदसं ददौ, तस्य नविकेता नाम पुत्रः आस ह।

इदानीं नचिकेतोयमसंवादद्वारेण प्रत्यगात्मपरमात्मनिरूपणं चिकीर्षुश्तत्रभवान् भगवान् वेदः आख्यायिकामारभते। आख्यायिकया हि सामान्यप्रतिपित्सूनां सरलतया विषयागमो भवति। श्रूयते तैत्तिरीये ब्राह्मणे यत् गौतमवंशीयः अरुणपुत्रः उद्दालकोनाम ब्राह्मणः पुरा विश्वजिन्नामयज्ञमाजहरे । तत्र ऋत्विग्भ्यः सर्वं द्रव्यं दत्तवान्, तस्य अल्पवयाः एकः स्नेहभाजनं नचिकेतोनाम पुत्र आसीत्। तत्स्नेहयन्त्रितहृदयः वृद्धाः दुग्धदाने सर्वथैवासमर्थाः धेनूर्ब्राह्मणेभ्यः समर्पयन् धर्मपरायणेन नचिकेतसा पितुरधर्मं निरीक्ष्य तन्निवारणव्याजेन—तात ! मां कस्मै ददासीति त्रिरापृष्टः प्रत्यवोचत्तं–मृत्यवे त्वां ददामि इति पित्रा समादिष्टः स ब्रह्मवर्चस्वी बालकः सशरीरः यमलोकं गतः । तत्र त्रिरात्रिपर्यन्तं स्थितः प्रत्यागतेन यमेन वरदानत्रयाभ्यर्थनायै प्रेरितः । प्रथमवरदानं पितृपरितोषरूपं द्वितीयं वरदानं स्वर्गावाप्तिसहायकाग्निविद्यादानरूपं याचित्वा प्राप्य च यमात् तृतीयवरदाने आत्मतत्वनिरूपणं बव्रे। यमश्च तं गभीररीत्या समकथयत् द्वाभ्यां वल्लीभ्यामित्येव प्रथमाध्यायसारांशः ।

ॐ, इति वैदिकं मङ्गलाचरणम्, हवै, प्रसिद्धिद्योतकावव्ययावेतौ इदमाख्यानं श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासप्रसिद्धमिति भावः। वाजश्रवसः, वाजश्रवाः अरूणः महर्षिविशेषः तस्यापत्यं पुमान् वाजश्रवसः अरूणपुत्र उद्दालक इत्यर्थः । यद्वा यौगिकोऽयं शब्दः तथा हि वाजम् अन्नम् तस्मिन् वाजे अन्नदानविषये श्रवः यशः यस्य स वाजश्रवाः अन्नदानविषये लब्धयशाः। स एव वाजश्रवसः, अत्र प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः। एवं भूतः दानशीलो ब्राह्मणः, उसन्, वष्टि कामयते इत्युशन् स्वर्गफलं कामयमानः। अत्र कान्त्यर्थक 'वश्' धातोः शतृ प्रत्यये सम्प्रसारणे रूपमेतत्। एवं स्वर्गं कामयमान उद्दालकः सर्वम्, सकलं वेदसं, विद्यते लभ्यते इति वेदाः धनपर्यायोऽयं वेदेषु पुंसिप्रयुज्यमानशब्दः, तं वेदसं धनराशिं हिरण्यरजतरौप्यवाजिधेनुप्रभृतिं ददौ दिदेश विश्वजिति यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः इति शेषः । तस्य नचिकेता नाम एतन्नामकः ह, मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदप्रसिद्धः पुत्रः, पुत् नरकः तस्मात् त्रायते तथाभूतः । शब्दोऽयं नचिकेतसो भाविघटनां निर्दिशति। अयं हि असमर्थानां धेनूनां दानं कुर्वाणं पितरं नरकात्त्रास्यत एव इत्यन्वर्थ संज्ञा पुत्रेति संज्ञा नचिकेतसः **पुन्नामनरकात् त्रायते इति**

पुत्रः इति स्मृतेः आस, बभूव । अत्र **बहुलं छन्दसि** इत्यप्रवृतिलक्षणबाहुलकेन अस्तेर्भू इत्यस्य प्रवृत्यभावात् आस इति छान्दसप्रयोगः ।।श्रीः।।

पश्चाद्भाविनीं घटनां सङ्केतयति, तमिति-

तँ ह कुमारँ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोमन्यत ।।२।।

ह, निश्चयेन दक्षिणासु नीयमानसु, दक्षिणा शब्दोऽत्र अर्षाद्यजन्तत्वात् दक्षिणावतीपरः, तथा हि दक्षिणा सन्निहिता यासु ताः दक्षिणा तासु, यद्वा वाजश्रवसः दक्षिणारूपेण धेनूरेव समुत्सृजति स्म, अतो दक्षिणाधेन्वोरत्राभेद औपचारिकः । एवं दक्षिणासु दक्षिणाभूतासु गोषु इत्यध्याहार्यं, नीयमानासु ब्राह्मणैः स्वगृहान्प्रति प्रेष्यमाणाषु सतीषु अत्र **यस्य च भावेन भावलक्षणं** पा.अ.२-३-३७ इति सूत्रेण सति सप्तमी । प्रसिद्धमेतच्छ्रौतयज्ञेषु यद्यज्ञकर्मणि वृतब्राह्मणानां चत्वारो विभागाः, एकैकस्मिन् विभागे चत्वारश्चत्वारो याज्ञिकाः । तत्र प्रथमविभागे होता-अध्वर्यु-ब्रह्मा-उद्गाता इमे चत्वारः, द्वितीयस्मिन्विभागे प्रशास्ता-प्रतिप्रस्थाता-ब्राह्मणाच्छंसी-प्रस्तोता इमे चत्वारः, तृतीयस्मिन् विभागे अच्छावाक्-नेष्टा-आग्नीध्र-प्रतिहर्ता च इमे चत्वारः, चतुर्थविभागे ग्रावस्तुत-नेता-होता-सुब्रह्मण्यश्च इमे चत्वारः । इत्थं प्रामुख्येन चतुर्णां यज्ञविभागानां संरक्षणाय षेडशयज्वानो याजयन्ति यजमानम् । चतुर्णां विभागानां दानक्रमेऽपि पूर्वस्मात्पूर्वस्मात् उत्तरोत्तरस्मिन् न्यौन्यम् । तथा हि यावत्यो गावः प्रथमविभागीयेभ्यो दीयन्ते ततो नेमाः द्वितीयविभागीयेभ्यः, प्रथमविभागतस्तृतीयांशाःतृतीयविभागेभ्यः चतुर्थांशाश्च तुरीयेभ्यः दीयन्ते । एवं भूतासु दक्षिणारूपेण दीयमानासु यथाविभागं षोडशभ्य ऋत्विभ्यो धेनुषु निजपित्रा, ह, निश्चयेन तम्, तथाभूतम् नचिकेतसं कुमारम्, प्रथमवयसं पाणिनीमतेन कुमारशब्दः प्रथमवयोरूढवाची स च प्रञ्चदशवर्षीयं यावत् बालकं प्रति व्यवह्रियते तथा हि सूत्रं "**वयसि प्रथमे**" पा.अ.४-१.२० वेदव्यासमते कुमारशब्दः बालस्य पञ्चवर्षवयः विविनक्ति । तद्यथा भागवते

एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे

(भागवत - १०/११/५९)

एवमेव अघासुरवधप्रकरणेऽपि परीक्षित पृच्छति **यत्कौमारे हरिकृतं जगुः पौगण्डकेऽर्भकाः** (१०/१२/४१)

अनन्तरं द्वयोर्वषयोः गोवर्धनधारणं तच्च सप्तमे वर्षे इत्यापि भागवते प्रसिद्धं **क सप्ताहयनो बालः** (१०/२७/११) सप्ततः द्विवर्षात्पूर्वं पञ्चमं वर्षं स्पष्टं

तस्मिन्नघासुरवधलीला सा च कौमारे **यत्कौमारे हरिकृतं** इति निर्देशात् । एवं साहित्यलक्षणकृतापि—

आपञ्चामाब्दं कौमारं पौगण्डं दशमावधि ।
आपञ्चदशमकैशोरं यौवनञ्च ततः परम् ।।

एवं कुमारं पञ्चवर्षबालकं, सन्तम् भवन्तम् 'अस्' धातोः भू पर्यायात् । यद्वा सच्छब्दः साध्वर्थकः तथा च सन्तं साधुहृदयं, इदमेव साधुत्वे स्पष्टयन्ती श्रुतिरग्रेऽपि प्राह–श्रद्धया अस्तिक्यबुद्धिः, यद्ययं साधुहृदयः नामविष्यत् तदमं श्रद्धापि नावेक्ष्यत् । आविवेश, आविष्टा बभूव सः, नविकेत अमन्यत, व्यचारयत् ।।श्रीः।।

नचिकेतसो विचारः किं प्रकारकः ? अत आह—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ।।३।।

नचिकेताः स्वयं विचारयामास यत्–पीतोदकाः, पीतम् अन्तिमवारं पानविषयीकृतम् उदकं जलं याभिस्तथाभूताः जग्धतृणाः, जग्धं खादितं तृणं याभिस्ताः, अत्र भूतकाले अद्धातोः निष्ठायां जग्धादेशः । एवं दुग्धदोहाः, दुग्धः दोहविषयतामापादितः दोहः दुह्यते इति दोहः "कर्मणि घञ्" पयोरूपः यासां तथाभूताः । अत्र त्रिषुस्थानेषु भूतकाले क्त प्रत्ययः, अर्थात् याभिः जलमपीयत भूयो न पास्यन्ति । आभिः चरमक्षणे तृणमाद्यत भूयो नात्स्यन्ति, आसाञ्च दुग्धमदुह्यत भूयो नैव दोहो भविष्यति, अतएव वर्तमानकालक्रिया न प्रायुञ्जि । निरिन्द्रियाः, निष्क्रान्तम् इन्द्रियं प्रजननेन्द्रियं यासां तथाभूताः प्रजनेन्द्रियरहिताः इति भावः । अत्र चतुर्भिर्विशेषणैर्नचिकेता पित्रा दीयमानानां गवां चतुर्थं वयः विभावयति । एतादृशीः निरर्थिकाः दत्वा मम पिता नरकमेव यास्यति अतो निवारयामि यतोऽस्मि पुत्रः तस्मात् पुत्रो नरकात् त्रायमाणः प्राहाग्रे–ताः, तादृग् वृद्धावस्थापन्नाः गाः ददत्, ब्राह्मणेभ्यः प्रदिशन् ते, श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाः अनन्दाः, नास्ति नन्दः आनन्दो येषु तथाभूताः, यद्वा न नन्दन्ति जीवाः येषु तथाभूताः लोकाः, लोकयन्ते कर्मफलानि येषु तादृशाः । अत्रोभयत्राधिकरणे घञ्, आनन्दशून्यनरकादिलोकाः शूकरकूकरादिनिकृष्टयोनिविशेषा वा सः, तादृगर्थहीनधेनुदानकर्ता तान्, आनन्दशून्यलोकान् गच्छति याति, नाम ध्रुवार्थकोऽव्ययः, ब्राह्मणानुपयोगिनीर्धेनूरतिसृजन् दाता नरकभाग् ध्रुवं भवतीति भावः । तस्मान्नरकं व्रजन्तं निजपितरं निवारयन् मन्त्रेणानेन नचिकेतसश्चिन्ताप्रकारः प्रादर्शि ।।श्रीः।।

अधुना नचिकेता तस्मात् क्रूरकर्मणः स्वपितरं निवारयितुमुपक्रमते सेत्यादि -

स होवाच पितरं तत् कस्मै मां दास्यसीति ।
द्वितीयं तृतीयं तँ् होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ।।४।।

सः, नचिकेता ह, पितुर्निवारणनिश्चयं विधाय पितरं उवाच,निजजनकमपृच्छत् तत् कस्मै मां दास्यसि, पिता कस्मै ब्रह्मणविशेषाय मदभिन्नं नचिकेतसं अर्पयिस्यसि इति ।

अयं प्रश्नः प्रकारसूचकः–ध्वन्यते चेदं यत्, वृद्धाः गाः ब्राह्मणेभ्यो दत्तवान् । तरूणीः मदर्थं सञ्चितवानसि यदर्थं पापमिदमाचरः तमपि स्वभूतं मां कस्मैचन दत्वा निष्पापो भव । द्वितीयं तृतीयं, श्रुत्वापि पुत्रप्रश्नं तूष्णीमभूते पितरि, द्वितीयं तृतीयं चापिवारम् इदमेव अपृच्छत् तत् कस्मै मां दास्यसि, तत् कस्मै मां दास्यसि । अथ उद्दालकः क्रुद्धः, अनिच्छन्नपि पुत्रनिर्बन्धजातरोषः प्रत्युत्तरयितुं निश्चित्य तं उवाच नचिकेतसमुत्तरयामास–त्वा मृत्यवे ददामि । त्वादृङ्निर्बन्धकारिणं प्राणवियोगव्यवस्थापिने यमाय समुत्सृजामि इति । उत्तरप्रकारसूचनेयम् ।।श्रीः।।

मृत्यवे त्वां ददामीति श्रुत्वोत्तरमथो पितुः चिन्तयामास मेधावी सपुत्रः पितृवत्सलः ।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किँ् स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ।।५।।

नचिकेता मनसि चिन्तयति यत् त्रेधा भवन्ति शिष्याः पुत्राश्च, तत्र स एव उत्तमः योऽनुक्तमपि पितुश्छन्दं पालयति । स मध्यमः यः प्रोक्तमनुतिष्ठति, सोऽधमो यः प्रोक्तमनुक्तं वा पितुर्गुरोश्च निदेशं न पालयितुं समीहते । तेषाम् उत्तममध्यमाधमानां बहूनाम्, अनेकेषां छात्राणां मध्ये प्रथमः, पितुरनुक्तं छन्दं पालपित्वा अहं नचिकेता उत्तमः एमि भवामि, बहूनाम् अनेकशिष्याणां मध्ये मध्यमः, गुरूप्रोक्तकारितया मध्यमः एमि भवामि । यमस्य, यमराजस्य प्रेतभर्तुः किंस्वित् किमभिधानं विशेषं कर्तव्यं विधेयं प्रायोजनम् अस्ति । यत् यदपूर्वं मया पित्रा दीयमानेन मया करणभूतेन अत्र **साधकतमं करणम्** पा. अ. १-४-४२ इति करण संज्ञानुरोधेन करणे तृतीया । अद्य, सम्प्रति करिष्यति, सम्पादयिष्यति यमराज इतिशेषः । तत् सम्बन्धिकर्तव्यसम्पादनाय करिष्यतीत्यस्य स एव कर्ता अध्याहर्तव्यः । केचनात्र नचिकेतः पितरं कर्तृत्वेनाक्षेप्तुमीहन्ते तन्नोचितं, समबन्धप्रतियोगितया चर्चितस्य यमस्यैव कर्तृत्वेनाक्षेपे प्रकरणस्वारस्यात् । अभिप्रायोऽयं नचिकेतसो यत् वहुधा पितुरनुक्तनिर्देशकरणात् बुहुषु शिष्येषु प्रथमो अहं, प्रोक्तपालनाच्च बहुषु मध्यमः, मयि

वर्तमानेऽत्र पितुः सेवा स्यात् मया यमः किं कार्यं करिष्यति यतोहि नाहं तस्य पुत्रः शिष्यो वा यत् तस्य अनुक्तप्रोक्तादेशपालने समधिकृतः स्याम् ।।श्रीः।।

तथापि पितुरादेशमनुसृत्य यमालयं गमिष्यामि यथा सौख्यं प्रोद्धर्तुं पितरं भवेत् अतो गच्छति पितरं शोचन्तं निरीक्ष्य तमुवाच पुत्ररत्नम्—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।।६।।

हे पितः ! यथा, येन प्रकारेण पूर्वे, भवतः पूर्वजाः पितृपितामहादयः गौतममुख्याः येन प्रकारेण समाचरितवन्तः तथैव अनुपश्य, आनुकूल्येन विलोकय, तथा तेनैव प्रकारेण परे, पश्चाद्भाविनः कुलन्धराः यथा त्वत्तः गृहीतशिक्षाः धर्मं रक्षिष्यन्ति तानपि प्रतिपश्य प्रतिक्रियया अनुभव । अर्थात् ये भवतो पूर्वजाः सत्यवादिनः तान् समीक्ष्य भाविनः सत्यवादिनोऽपि विविच्च प्रतिज्ञातो माविचल सत्यनिष्ठां द्रढयितुं शरीरभङ्गुरतामुत्तरार्धेन विवृणोति—'मर्त्यः' मरणधर्मा सस्यम् इव, धान्यमिव पच्यते, स्वयमेव पक्वो भवति, तण्डुलः पच्यते इतिवत् कर्मकर्तृप्रयोगः । पुनः, भूयः सस्यमिव गोधूमादि प्ररोहमिव आजायते मातुर्गर्भमागत्य प्रादुर्भवतीति भावः । अत्रोपमाद्वयेन द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति इति न्यायभङ्गिम्ना मर्त्यस्यावश्यं विनाशं सूचयन् सत्यान्नचलितुं पितरमनुरून्धे ।।श्रीः।।

इत्थं स्वेनैन समुपदिष्टेन पित्रा समनुज्ञातो मृत्युमभिगन्तुं तत्र गतो नचिकेता यममलभमानस्तद्गृहद्वारमधिवसन् प्रतीक्षाञ्चक्रे । अतीत्य दिनत्रयं गृहं प्रत्यागतं यमराजं पतनात् त्रायमाणा यमराजपत्नी पतिं प्राह वैश्वानर इत्यादि—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ।।७।।

वैवस्वत् , विवस्वान् सूर्यः तस्य अपत्यं पुमान् वैवस्वतः अपत्यार्थोऽण् प्रत्ययः तत्सम्बुद्धौ हे वैवस्वत् हे भानुपुत्र ! पत्युर्नामाग्रहणनिर्देशस्य स्मृतिनिगदितत्वात् यमेति न सम्बोधयति । वैवस्वतोदकम् इत्यत्र पत्याः निकटस्थत्वात् दूराह्वान विषयकप्लुताप्रवृत्या गुणसन्धिः । वैश्वानरः, अग्निः तत्सदृशः अत्र वैश्वानरशब्दस्य सिंहोमाणवक इति वत् लक्षणा, यद्वा इवेति शब्दोऽध्याहर्त्तव्यः एवं पावकसमानः तेजस्वी ब्राह्मणः ब्रह्माधीयानो ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातो विप्रवटुः । अथ कथं पूर्वं भवद्व्याख्यानुसारं कौमारं पञ्चवर्षात्मकं वयः प्राप्य नचिकेतसा ब्रह्माध्येतुं शक्येत वेदाध्ययनं ह्युपनयनमूलकं तच्चाष्टवर्षस्य ब्राह्मणवटोः सम्भवम् **अष्टवर्षं हि**

ब्राह्मणमुपनयीत इति श्रुतेः । साधु पृष्टम्, अष्टवर्षस्य ब्राह्मणवटोरुपनयनं श्रुतेरुत्सर्गवादः विशेषस्तु गर्भात्पञ्चमे वर्षे पुत्रमुपनयति ब्रह्मवर्चस्कामः । एवं राजन्यः षष्ठवर्षपुत्रमुपनयीत बलकामः, सामान्यस्त्वेकादशवर्षम् । अतएव भगवान् श्रीरामोऽपि सभ्रातृकः कौमारीं पञ्चवर्षावस्थामतीत्य षष्ठे वर्षे बलकामेन चक्रवर्तिदशरथेन समुपनीतः, तथा गायन् मानसकारः—

भयेकुमार जबहि सब भ्राता । दीन्ह जनेउ गुरु पितु माता ।

(मानस १/२०४/३)

तथैवात्रापि ब्रह्मवर्चसकामेनोद्दालकेन नचिकेता गर्भात् पञ्चमेऽब्दे समुपनीतः, तस्मादेव वेदमधीते तच्छिष्यतां प्राप्य यथा तेनैव पूर्वमुक्तं बहूनामेमि प्रथमः । ननु पञ्चवर्षबालो कुमार इत्यत्र किमप्यार्षवचनं प्रमाणं प्रदश्यमिति चेत् पश्य–सनकादयः सततं पञ्चवर्षाः अतस्ते कुमारा इति व्यवह्रियन्ते **वृद्धा दशार्धवयसो विदितात्मतत्वाः** (भागवत ३/१५/२९) **पञ्चषड्ढायना बाला पूर्वेषामपि पूर्वजाः** इत्यपि पुराणान्तरम् । अतिथिः, न विद्यते आगमनतिथिः यस्य तथाभूत आगन्तुकः गृहान् , गृहस्थसद्मानि प्रविशति, प्रविष्टो भवति । तात्पर्यमेतत् यदतिथिर्ब्राह्मणो वटुः अग्निरिव तेजोमयः सर्वदहनसमर्थश्च गृहस्थभवनं प्रविशति सः अर्घ्यादिसम्मानपयसा प्रशमयितव्यः । तस्य, पावकतेजसो ब्राह्मणवटोः एताम् , सत्क्रियारूपाम् शान्तिम् , अमङ्गलनिवरणरूपां कुर्वन्ति, सर्वे गृहस्थधर्मविदः समाचरन्ति अतस्त्वमपि उदकम् , पाद्यार्घ्याचमनीयरूपं हर, तस्मै नय, अत्र प्रार्थनायां लोट् । यथाग्निः पयसा शाम्यमानो नामङ्गलाय प्रभवति तथैव ब्राह्मणोऽपि प्राप्तसम्मानोदकः नानिष्टायेष्टे ।।श्रीः।।

यमपत्नी तमेवार्थमपरेणमन्त्रेण भूयोऽपि व्याहरति—

आशा प्रतीक्षे संगत ँ् सुनृतां
च इष्टापूर्ते पुत्रपशू ँ् श्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ।।८।।

इदानीं अनशनतोऽतिथेः सकाशात् षण्णां वस्तुनां विनाशभयमपि पत्ये दर्शयति– यस्य, गृहधर्मिणः अल्पा मेधा धारणाशक्तिः यस्य स अल्पमेधा तथाभूतस्य अल्पमेधसः क्षुद्रबुद्धेः पुरुषस्य, तस्य नरस्य गृहे, भवने अनशनन्, अलब्धभोजनः ब्राह्मणः, विप्रः वसति तस्य किं किं नाशयति, इत्यत आह—आशाप्रतीक्षे, आशा च प्रतीक्षा च ते, अत्र लक्षणया आशाप्रतीक्षे प्राप्तधने इत्यर्थः संगतम्, सम्यक प्राप्तं धनं सूनृतां,

सत्यवाणीं इष्टापूर्ते, यज्ञदानादि वापीनिर्माणादिजनितफले सर्वान् पुत्रपशून् पुत्रपशुसम्पदः एतद् सर्वं वृङ्क्ते, विनाशयति अतो नावमन्तव्योऽतिथिः ॥श्रीः॥

अथ पत्न्या प्रेर्यमाणो यमो नचिकेतसे समर्पितषोडशविधानसमर्चः निजव्यतिक्रमप्रायश्चित्तं चिकीर्षुः स्वगृहं तिस्रो निशाः समध्युषितस्य निरन्नस्य नचिकेतसो रोषशान्तये प्रह्वः प्राह—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीगृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात् प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

ब्रह्मन् ब्राह्मणवटो यत् तिस्रोरात्रीः यस्मात्रात्रित्रयं यावत् अत्रात्यन्तसंयोगे काले द्वितीया, मे मम यमराजस्य गृहे अनश्नन् अवात्सीः अभुञ्जानः निवासमकार्षीः मे नमस्यः अतिथिः, नमस्कारयोग्यः ब्रह्मन्, ते नमः अस्तु, तुभ्यं नमस्कारोऽस्तु, मे मह्यम् स्वस्ति अस्तु, अत्र स्वस्तिनमसोः योगे नमःस्वस्ति इत्यादिना चतुर्थी । तस्मात्, प्रति प्रत्येकरात्रिक्रमेण त्रीन् वरान् , त्रिसंख्याकवरदानानि वृणीष्व याचस्व ॥श्रीः॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीतं एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१०॥

अथ नचिकेता प्रथमं वरं वृणीते–मृत्यो, हे प्राणिमरणविधायिन्, गौतमः गौतमवंशजो मे पिता यथा शांतसंकल्पः शान्ताः स्वर्गादिसंकल्पाः यस्य तथा भूतः निरस्तलौकिकसंकल्पः वीतमन्युः, वीतः नष्टः मन्युः क्रोधःयस्य तथाभूतः, अथ सुमनाः प्रसन्नमनाः यथा स्यात् येन प्रकारेण भवेत् । मां नचिकेतसमभिवदेत्, अभीष्टं वदेत् तथा येन प्रकारेण त्वत् प्रसृष्टं, त्वया यमराजेन प्रेषितं मा माम् प्रतीतः विश्वस्तः मामभिमुख्येन तोषयेत् त्रयाणां भवदुक्तवरदानानां प्रथमं वृणे याचे ।

इत्थं प्रथमवरदानस्वीकृतिं सूचयति—

यथा पुरस्ताद्भविता
प्रतीत औद्दालकिरारूणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुख ँ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां
ददृशिवान्मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥११॥

औद्दालकिः, औद्दालक एव औद्दलकिः स्वार्थे इञ् प्रत्ययः । आरुणिः, अरुणस्य गोत्रापत्यं पुमान् ते पिता, वाजश्रवसः पुरस्तात् नाचिरात् यथाप्रतीतः भविता विश्वस्तः

भवेत्। एवं मत्प्रसृष्टः मया यमेन प्रसृष्टः प्रेरितः वीतमन्युः, विगतरोषः त्वां नचिकेतसं मृत्युमुखात् मरणवदनात् प्रमुक्तं प्रत्यागतं ददृशिवान् दृष्टवान् सन् रात्रीः वह्वी निशाः सुखंशयिता सानन्दं सुप्ता तथैव यतिष्यामहे इति भावः ।।श्रीः।।

इत्थं यमराजात् पितृपतितोषरूपप्रथमवरदानं प्राप्य नचिकेता द्वितीयवरं प्रार्थयते स्वर्गेति—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया विभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१२।।

द्वितीयवरदाने स्वर्गावाप्तिकारणमग्निं याचिष्यमाणः प्राक् तल्लक्ष्यं स्वर्गं स्तौति– स्वर्गे लोके, देवलोके किंचन भयं नास्ति, तत्र द्वितीयाभिनिवेशाभावात् नास्ति भीतिरित्यर्थः। तत्र, स्वर्गे त्वं, यमराजोऽपि भवान्, न जरया, वार्धकेन न बिभेति न तृण्यति जीव इतिशेषः । अशनाया बुभुक्षा, पिपासा तृट् ते अशनाया पिपासे क्षुत्तृषौ उभे तीर्त्वा, समतिक्रम्य शोकातिगः, शोकमतिगच्छति आत्मज्ञानेन व्यपोहति तथाभूतः स्वर्गलोके, दिवि मोदते प्रसीदति ।।श्रीः।।

लक्ष्यं स्तुत्वा तत्प्रप्तिसाधनभूतमग्निं याचते द्वितीयवरेण सेत्यादि—

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ।।१३।।

मृत्यो ! म्रियन्ते जनाःयेन तथाभूतः त्वं यथा जीवान् मारयित्वा प्राणेभ्यो विनियुङ्क्षि तथा मम संशयप्राणमपि मदन्तःकरणात् वियोजय, इति मृत्योः विशेषणस्य तात्पर्यम्। स त्वं, सर्वज्ञः स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितम् अग्निं पावकाधानप्रयोगमध्येषि अधिकृतं जानासि अतः मह्यं नचिकेतसे श्रद्दधानाय अस्तिकबुद्धये ब्रूहि उपदिश। ननु कथमिव स्वर्गप्राप्तिसाधनमग्निं याचसे ? इति जिज्ञासमानं प्रत्याह–स्वर्गलोकाः, स्वर्गःलोकःयेषां तथाभूतः स्वर्गीयाः इति भावः, अमृतत्वं, म्रियन्ते इति मृताः मनुष्याः तद्भिन्ना अमृताः देवाः तेषाम् अमृतानां भावः अमृतत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति । यथा स्वर्गिणो जरामरणरहिताः तथाहमपि तादृक् भवेयमिति जिज्ञासे । यद्वा स्वर्गपदमत्र परमेश्वरधिष्ण्य साकेतगोलोकवैकुण्ठपरम् अतएव न तत्र त्वमिति प्रागुक्तं संगच्छते। तथा व्युत्पत्तिः स्वः स्वर्गलोकेऽपि गीयते स्तूयते इति स्वर्गः एवं तत्रत्या अमृतत्वं न विद्यते मृतत्वं जन्ममरणप्रपञ्चं यस्मिन् तत् अमृतत्वं अमृतत्वं परब्रह्म अतएव **सोऽमृतत्तवाय कल्पते** इति गीतावचनमपि संगतम् । तादृशम् अमृतत्वं स्वर्गस्थाः

भजन्ते सेवकसेव्यभावेन भगवन्तं सेवन्ते, एतत् इदमेव भगवत्प्राप्तिसाधनं द्वितीयेन वरेण वृणे याचे ।।श्रीः।।''

इत्थं नचिकेतसा प्रार्थ्यमानो यमो द्वितीयं वरं दित्सुस्तन्महिमानं कीर्तयति—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ।।१४।।

हे नचिकेतः ! आरुणेय अनन्तलोकाप्तिम्, नास्त्यन्तः क्षयः यस्मात् सोऽनन्तः स चासौ लोकश्चेत्यनन्तलोकः साकेतः नतु देवलोकः, देवलोकस्य सान्तत्वात् अत्रोपात्तानन्तविशेषणेन तस्य स्वत एव व्यावृतत्वात् । तस्य अनन्तलोकस्य साकेताख्यस्य आप्तिः प्राप्तिः येन तथाभूतं यद्वा, अनन्तो परब्रह्मभिधानो रामः तस्य लोकस्य आप्तिः यस्मात् तम् । अथो अनन्तरं प्रतिष्ठां यः जीवाय भगवति प्रतिष्ठामर्पयति । अथवा यस्य गतिनिवृर्तिर्न जायते अभिन्नत्वात् प्रष्ठिायाः तच्छब्देनैव विशिष्यते । तादृशं स्वर्ग्य स्वर्गप्रापकम् अग्निं ते नचिकेतसे, प्रब्रवीमि प्रकर्षेण कथयामि । अत्र व्यवहितोऽपि इति निर्देशेन ते शब्दात् प्राक प्र प्रयोगः । तत्, रहस्यं उ निश्चयेन मे निबोध, मम सकासात् जानीहि । त्वं नचिकेतः एवम् अग्निं गुहायाम् निहितं, शास्त्रकन्दरे निगूढं विद्धि जानीहि ।।श्रीः।।

इति तदध्ययने प्रवृत्तिविवर्धयिषया तदग्निरहस्यं स्तुत्वा साम्प्रतं नचिकेतसे तमुपदिशति लेकेति—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ।।१५।।

अथ यमः तस्मै, नचिकेतसे तं, लोकादिं, लोकस्य प्रापकम् अग्निम् उवाच अकथयत् । तत्र याः, यद्रूपाः यावतीः वा यथा वा, यत् प्रकारिका यत् प्रमाणाश्च इष्टिका तत् सर्वं न्यवेदयत् । स चापि नचिकेतापि यथोक्तं, यमोक्तमनुसृत्य तत्प्रत्यवदत् विदित्वा तथैव न्यवेदयत् व्युत्पन्नबुद्धित्वात् । अथ, नचिकेतसः प्रतिभां विलोक्य अस्य नचिकेतसः तुष्टः मृत्युः यमः पुनः एव आह अयाचितमपि वरदानमपरं दत्तवान् ।।श्रीः।।

अयाचितवरप्रकारं व्यनक्ति—

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ।।१६।।

प्रीयमाणः शिष्यप्रतिभया प्रभावितः नितरां संतुष्यन् महात्मा महान् पूजनीयः आत्मा धैर्यविशेषः बुद्धिव्यापारो वा यस्य तथाभूतः तं नचिकेतसम् अब्रवीत् । कथन प्रकार माह—वत्स ! अद्य सम्प्रति भूयः अपि त्वया नयाच्यमानोऽपि स्वाभिलषितमेकं वरम् अद्य ददामि इतः पूर्वमयचितो न कस्मैचित् प्रादाम इत्येवाद्यस्वारस्यम्, एषः अग्निः तवैव नचिकेतस एव नाम्ना अनिधानेन भविता ख्यातिं गमिता । च अपरम् अपि एकम् उपहारं ददामि अनेकानि रूपाणि अवयवसंस्थानानि यस्यां तादृशीम् इमाम् अनेकरूपां सृङ्कां देवनिर्मितां मालामपि गृहाण निजवक्षसि परिधत्स्व ।।श्रीः।।

अधुना सोपदिष्टस्य अग्नेर्महत्वं वर्णयति त्रिणाचिकेत्यादि—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति ।।१७।।

नचिकेतसः अयं नाचिकेतः पृषोदरादित्वात् सकार लोपः । त्रिवारं अनुष्ठितः नाचिकेतः अधुनैव मयोपदिष्टोऽग्निः येन स त्रिणाचिकेतः **ऋवर्णान्नस्यणत्वं वाच्यम्** इत्यनेन णकारः, वारत्रयं नाचिकेताग्नेरनुष्ठानकर्ता इति भावः । त्रिभिः ऋग्यजुः-सामभिः यद्वा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिनामकै अवस्थाविशेषैः अथवा इडापिङ्गला-सुषुम्नानाडीविशेषैः सन्धिं समागमम् एत्य प्राप्य, पुनः त्रीणि यज्ञतपोदानानि अथवा ज्ञानवैराग्यभक्त्यनुसारीणि उत वा नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तानि अथवा ब्रह्मचर्य-गार्हस्थवैखानसानुरूपाणि कर्माणि वेद विहितानि इत्यनेन अकर्मविकर्माणिप्रत्युक्तानि । एवं व्याख्यातानि त्रीणि कर्माणि करोति इति त्रिकर्मकृत्, जन्ममृत्यू जन्मच मृत्युश्च इति जन्ममृत्यू घि संज्ञत्वेऽपि मृत्योरनभ्यर्हितत्वत् पश्चात् प्रयोगः । एवं जन्ममरणबन्धने तीर्त्वा तरणविषयो विधाय संसारसागरं तरति । तथा ब्रह्मवेदः तस्मात् जायते इति ब्रह्मजज्ञः तम् ईड्यं स्तुतियोग्यं देवं परमज्योति स्वरूपम् अग्निं विदित्वा सदगुरुकृपया विज्ञाय इमां नाचिकेताग्निविद्यां निचाय्य चयनविषयिणीं विधाय अत्यन्तशान्तिं निरवधि-शान्तिस्थितिमेति गच्छति ।।श्रीः।।

भूयः तद् विद्यामहत्वमेव संस्तौति त्रिणाचकेत इति—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँ श्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१८।।

यः एवं त्वादृशो मेघावी विद्वान् विजानन् एतत् त्रयम् इष्टिकास्वरूपम् इष्टिका परिमाणम् इष्टिकानिर्माणप्रकारं च विदित्वा ज्ञात्वा, नाचिकेतं एतन्नामकमग्निं चिनुते

चयनविषयीकरोति, सः तृणाचिकेतः त्रिः नाचिकेताग्नेरनुष्ठानकारी पुरतः प्रारब्धप्राप्तशरीरस्य संस्थितावेव न तु शरीरनाश इति भावः, मृत्युः मदभिन्नो यमः तस्य पाशान् बन्धनानि यातनारूपाणि प्रणोद्य विभज्य शोकातिगः अतिक्रान्त प्रियवियोगजनितशोकः नित्यमेव तस्य परमप्रियतमपरमात्मना सह सन्निहितत्वात् स्वर्गलोके साकेते मोदते भगवता सह तत्कैंकर्यसुखमनुभवन् प्रसीदति ।।श्रीः।।

पुनःविद्याया अस्याः माहात्म्यवर्णनमुपसंहरन् तृतीयं वरं याचितुं नचिकेतसं समीरयति वैवश्वतः—

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ।।१९।।

हे नचिकेतः ! एषः अयं स्वर्ग्यः स्वर्गसोपानभूतः अग्निः ते अधुना त्वद् धनरूपो जातः ते इति संबन्धे षष्ठी । यम् अग्निं द्वितीयेन वरेण अत्राभेदे तृतीया । द्वितीयवरदानाभिन्नतथा अवृणीया वृतवानासि, जनासः सर्वेजनाः जनशब्दात् प्रथमाबहुवचने जसि **आज्जसेरसुक्** पा०आ० ७-१-५०इति पाणिनीयसूत्रेण असुगागमे रुत्वे विसर्गे जनासः छान्दसोऽयं प्रयोगः लोकेतु जना इत्येव । एतमग्निं तवैव तव संम्बन्धिनमेव अथवा त्वन्नाम्नैव प्रवक्ष्यन्ति ख्यापयिष्यन्ति । हे नचिकेतः ! इदानीं शेषं तृतीयं वरं वृणीष्व याचस्व ।।श्रीः।।

अथ यमाद्वरद्वयं प्राप्य जगत्कल्याणकामेन नचिकेतसा तृतीयस्मिन् वरे आत्मानात्मविवेकपुरःसरमात्मज्ञानलिप्सुना तद्विषयक प्रश्न एव बव्रे । अत्रेदमवधेयं यदस्मिन् औपनिषददर्शने आत्मपदवाच्ययोः जीवात्मपरमात्मनोर्मीमांसा नितरामभीष्टा तत्राभेदश्त्वौपचारिकः । पारमार्थिकस्तु भेद एव अतो यत्र कुत्रापि श्रुतिभिरभेदः कथ्यते तत्र सिंहोमाणवक इतिवत् संम्बन्धतः ब्रह्मजीवयोरैक्यं नैवप्रतिपद्यामहे इति तत्र तत्रासकृदवोचाम ।

तथैवात्र नचिकेता अपि तृतीयवरदानरूपेण पक्षद्वयोपस्थापनच्छलेन जीवात्म परमात्मनोः विषये जिज्ञासामुपस्थापयति । यद्यपि नचिकेता नास्ति नास्तिकः पूर्वमेव (अनन्दा नामतेलोका) इति निगदता तेन सुस्पष्टं लोकपरलोकयोः स्वीकृतत्वात् । चार्वाकादिनास्तिकानां नये मरणामन्तरमात्मसत्ता नाङ्गीकृता । तेव्याहरन्ति—**यावद् जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः** तेषां मते राजा एव ईश्वरः अङ्गनादिसुखमेव स्वर्ग्यसुखम् । किन्त्वास्तिकाः समुपस्थापयन्ति तर्कम्–यद्यद्कार्य तत् तत् कर्त्राधीनं कार्यत्वात् घटवत्, नहि कर्तारमन्तरेण किमपि

कार्यं भवति अतो विलक्षणसृष्टेः विलक्षणकर्तृत्वेन परमेश्वरोऽनुमीयते। यदि जीवस्य पुनर्जन्म न स्यात् तर्हि कथं पयसा क्षुच्छान्तिमजानन् सद्योजातः शिशुः मातुः स्तन्यपाने प्रवर्तेत, नूनं पयसि स्पृष्टे रसनायां बालकः प्राक्तने जन्मनि स्वानुभूतचरीं प्रसुप्तवासनां स्मरति, नोचेत् भयपरिभाषामविदान् लघुशिशुः कथं भयंकरशब्देभ्यः भयंकराकृतिभ्यश्च विभेति, अतः सुस्पष्टं पृच्छति—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।२०।।

या आसृष्टेः प्रसिद्धा इयम् एषा सर्वजनविदिता प्रेते प्रेतेशरीरं विहाय मृते, अत्र विषये सप्तमी प्रेतविषये इत्यर्थः, मनुष्ये मननशीले मानवे अत्र औपश्लेषिकी सप्तमी, उपश्लेषश्च मनोऽवच्छेदेन मनुष्यमानसमुपश्लिष्टा, विचिकित्सा संशीतिः तत् प्रकारमाह- एते आस्तिका आमनन्ति यत् मृतेऽपि जने आत्मसत्ता न म्रियते, तथा हि पाणिनिर्धातुं पठति **मृङ्प्राणवियोगे** मरणे प्राणाः खलु वियुज्यन्ते, न त्वात्मा तस्य परमात्मना सह नित्यसंयुक्तत्वात्। एके नास्तिकाः कथयन्ति–अयं जीवात्मा नास्ति, एतयोः कतरः पक्षः समीचीनः इत्येतत् त्वया यमराजेन अनुशिष्टः उपदिष्टः अहं नचिकेता विद्यां जानीयाम्, एषएव आत्मज्ञानोपदेशः वराणां त्रयाणां मध्ये तृतीयः वरः भवता देय एव ।।श्रीः।।

प्रश्नमेनं बालमुखात् निशम्य नानधिकारिणे ब्रह्मविद्योपदेशः कर्तव्यः इतिकृत्वा पूर्वं यमः अधिकारिपरीक्षणचिकार्षया प्रश्नजाटिल्यवर्णनमुखेन नचिकेतसं विचालयति—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्।।२१।।

हे नचिकेतः ! अत्र आत्ममीमांसामां देवैः दैवीसम्पदमुपेतैः सुरैः पुरा पूर्वस्मिन् काले विचिकित्सितं संशयितम्, इदं रहस्यं सुविज्ञेयं सुखेन ज्ञातुं शक्यः नहि, एवं आत्मजिज्ञासारूपो धर्मः निवृत्तिनिरतैरनुष्ठेयः अणुः सूक्ष्मतमः। तस्मात् त्वमेतस्मादन्यमपरं वरमभीप्सितं वृणीष्व वरय। नचिकेतः ! मा मां यमं मा मा उपरोत्सीः उपरुद्धं माकुरु माकुरु, एवमात्मविषयकप्रश्नवरं अतिसृज त्यज। यद्वा स्वपित्रे एनं वदान्यत्वात् एवं प्रश्नं कश्मैचित् तुरीयाश्रमसेविने देहि ।।श्रीः।।

प्रश्नजाटिल्यं श्रुत्वा नचिकेता न विचचाल भूयोऽपि दृढतया तं पप्रच्छ—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।।२२।।

हे मृत्यो ! सूर्यपुत्र, त्वं यमराजः आत्थ अचकथः, यत् अत्र आत्मविषये देवैः विवुधैरपि किल निश्चयेन विचिकित्सितं संदेहः कृतः । च अपरं यदात्थ न सुविज्ञेयं सरलतया ज्ञातुं नशक्यम् । अतः प्रत्येमि यत् त्वादृक् भवादृक् अन्यः अस्य धर्मस्य वक्ता उपदेशकः न लभ्यः न प्राप्यः, एतस्य वरस्य तुल्यः समानःकश्चित् कोऽपि अन्यःवरः अपरवरदानं नास्ति, अयं अद्वितीय इति भावः ।।श्रीः।।

भूयः तं प्रलोभयितुमीहते यमराजः—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणाष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ।।२३।।

शतं वर्षाणि आयुः जीवनं येषां तथा भूतान् पुत्रपौत्रान् संन्ततिसुखं वृणीष्व याचस्व । बहूनसंख्याकान् पशून् गोप्रभृतीन् हस्तिहिरण्यं हस्ति भारमितं सुवर्णं हस्तिभारमितं हिरण्यमिति विग्रहे शाकपार्थिवदित्वात् भारमिति शब्दलोपे हस्तिहिरण्यं साधु । यद्वा हस्तिनो हिरण्यस्यचसमाहारे बाहुलकात् समाहारद्वन्दः, अश्वान् हयान् भूमेः पृथिव्याः महत् विशालम् आयतनं विभागं वृणीष्व वरय । च अन्यदपि यावत् शरदः वर्षाणि इच्छसि तावत् जीव प्रणान्धारय अहमेव सर्वान् मारयामि तुम्यं च जीवनं ददामि ।।श्रीः।।

भूयोऽपि तं प्रलोभयितुं लोभनीयवस्तूनि संकीर्तयति—

एततुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ।।२४।।

हे नचिकेतः ! एतत्तुल्यमेतेन तुल्यं समानं यदि अन्यं वरं मन्यसे तर्हि वृणीष्व । वित्तं धनं चिरजीविकां वृत्तिं याचस्व, एवं महाभूभौ विशालपृथिव्यां त्वमेधि अधिपतिः भूत्वा वर्धस्व कामानाम् इष्टपदार्थानां मध्ये त्वा भवन्तं कामभाजं श्रेष्ठकामयुक्तं करोमि ।।श्रीः।।

पुनः स्वर्गसुखप्रलोभनं ददाति—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाँ्श्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
अभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ।।२५।।

ये ये कामाः इष्टपदार्थाः मर्त्यलोके दुर्लभाः दुःष्प्राप्याः सर्वान् कामान् रमणीयभोगान् छन्दतः स्वेच्छातः प्रार्थयस्व याचस्व । पश्य, इमाः ममादेशात् स्वर्गतः समागताः

सरथाः रथादिवाहनयुक्ताः सतूर्याः तूर्यादिवाद्यविशिष्टाः रामाः रमण्यः सन्ति ताः तुभ्यं ददामि, मया यमेन प्रत्ताभिः अर्पिताभिः आभिः परिचायस्व आत्मानं सेवयस्व । तव भाग्यमेतत् ईदृशाः वारांगनाः छन्दतस्त्वधीना इति भावः । मनुष्यैः मरणधर्मभिः न लम्भनीयाः न लङ्घितुं शक्याः । अतः इमाः लम्भय किन्तु मरणं अनुशरीरत्यागानन्तरं कि भवति इति मां मा अनुप्राक्षीः मा जिज्ञासिष्ठाः । यद्वा मकारो जीववाची तस्य अरणं शरणं इति मरणं शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् एवं जीवशरणभूतं परमात्मानं मा प्रच्छ इति भावः ।।श्रीः।।

इत्थं त्रिभिरपिप्रलोभनैर्न लोभितः नचिकेता सर्वान् कामान् तिरस्कुर्वन् आत्मज्ञानमेव याचते—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जयरन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ।।२६।।

हे अन्तक ! सर्वान् अन्तयति विनाशयति इत्यन्तकः तत् सम्बुद्धौ । सर्वान्नन्तयन्नपि अन्तवत् सुकामेषु मां निक्षिपसि इति चित्रम् इत्यन्तकशब्देन काकुः । स्वः अग्रिमदिने भावः सत्ता येषां ते श्वोभावाः क्षमभंगुराः, यत् यतो हि मर्त्यस्य मनुष्यस्य सर्वेन्द्रियाणां सकलहृषीकाणाम् एतद् वर्तमानं तेजः वीर्यं जरयन्ति नाशयन्ति अतोनाहमेतान्वृणे ।

अपि किञ्च, सर्वजीवितं जीवनम् अल्पमेव क्षणभंगुरत्वात् तस्मात् वाहाः वाहनानि नृत्यगीते वाराङ्गना सुखप्रदे तवैव तवैव उपेक्षणीयत्वात् द्विरूक्तिः । तव पार्श्वे एव तिष्ठन्तु तव पार्श्वे एव तिष्ठन्तु, ब्रह्मचर्याश्रमे स्त्रीकीर्तनस्य निषिद्धत्वात् तन्नाम स्मृत्याप्यलम् ।।श्रीः।।

भूयः प्रलोभनानां निःसारतां वर्णयन् तस्मिन्नेव वरदाने निष्ठां प्रदर्शति—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिस्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ।।२७।।

यद् भवता वित्तस्य प्रलोभनं दीयते तदप्यसंगत् । यतो हि मनुष्यः मननशीलो द्विपाद् वित्तेन न तर्पणीयः, यतोहि सः लोकपरलोकं जानाति तथापि असम्भावना नास्ति त्वां यमराजम् अद्राक्ष्म साक्षादकार्ष्मचेत् तदा वित्तं धनं लप्स्यामहे प्राप्स्यामः । यावत् त्वं यमराजः यावत् कालमीशिष्यसि यमराजपदे शासनं करिष्यसि तावत् जीविष्यामः, यतो हि भवतः वशे मरणमहं च भवतः शिष्यः, नहि कोपि गुरुः शिष्यं मारयति । सामान्य प्रणामेऽपि चिरन्जीवेत्याशास्ते तस्मादिदं सर्वं स्वाभाविकम् अतः स आत्मज्ञानविषयकः वरः मे मम यमराजस्य वरणीयः प्रार्थनीयः ।।श्रीः।।

पुनः स्वर्गसुखनिरर्थकतां वर्णयति–

जीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ।।२८।।

हे यमराज ! सौभाग्येन भवादृशानां सम्पर्को जायते, मानवस्तु स्वकर्मवशात् निम्नभोगान् भुन्जानो भूमेरधोगतिं गतः । तथाच मर्त्यः मरणधर्मा जीर्यन् जीर्णतां गच्छन् कुः पृथिवी तस्याः अधः सूकरादिस्थानानि अमृतानां मरणरहितानां भवताम् अजीर्यताम् अविनाशिभावम् उपेत्य प्राप्य, वर्णाः ललनासौंदर्य रतिः स्मरकेलिः प्रमोदः अभीष्टलाभः तान् अभितः ध्यायन् चिन्तयन् अतिदीर्घे विशाले जीविते जीवने कः रमेत को नाम मंदभाग्यः अनुरक्तो भवेत् । अथवा जीविते अकः रमेत कं सुखं तन्नास्ति यस्मिन् अर्थात् दुःखभाग् रमेत् ।।श्रीः।।

अधुना निजाभिलषितमेव लब्धुं साग्रहं याचते—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।

योऽयंवरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ।।२९।।

हे मृत्यो मरणनियन्तः । यस्मिन् विशिष्टविषये इदं मत्प्रश्नानुरूपं विचिकित्सन्ति संशेरते यच्च महति दुर्ज्ञेये साम्पराये शरीरत्यागसम्बन्धे विचिकित्सितं, यः भवता चर्चितः वरः वरदानविषयः आत्मतत्वविषयः गूढम् अनुप्रविष्टः गोपनीयतां गतः । तत् तदेव परमात्मतत्वं नः अस्मभ्यं विशिष्टाधिकारिभ्यः ब्रूहि कथय । नचिकेता एतन्नामधिकारी मदनन्यः अन्यमस्मादितरं वरं वरदानं न वृणीते इति ।

।। इति कठोपनिपदि प्रथमाध्याये प्रथमवल्ली ।।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

अथ द्वितीयवल्ली

पूववल्यामूनत्रिंशन्मन्त्रैरधिकारियोग्यता साख्यानं निरूपिता । स एव ब्रह्मविद्याया अधिकारी यः खलु मातृपित्र्यतिथ्याचार्यदैवतकः सदाचारनिरतः आस्तिकबुद्धिसम्पन्नः जिज्ञासुः आध्यात्मज्ञाने दृढनिश्चयः प्रशस्ताचार्यवांश्च ब्राह्मणः **आचार्यवान् पुरुषो वेद विद्याहवै ब्राह्मणमाजगाम** इत्यादि श्रुतिप्रमाणात् । सौभाग्यतः नचिकेता सकलगुणसम्पन्नः पिता च तस्य गौतमवंशजो महर्षिः उद्दालकः **ब्राह्मणो गृहान्, नमस्तेस्तु ब्रह्मन्** इत्यादि श्रुत्यनुरोधात् **तस्यह नचिकेता नाम पुत्र आस** इति श्रुतेश्च ।

सवर्णाया: ब्राह्मणपत्न्या: कुक्षावपि जात: । न खलु ब्राह्मणपुत्रो ब्राह्मण: प्रत्युत् ब्राह्मणीपुत्र: एवं ब्रह्मणेन ब्राह्मण्यां गर्भाधानसंस्कारपु:सरं संजनित: तप:श्रुताभ्यामुपबृंहित: ब्राह्मण: । **तपः श्रुतञ्च योनिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्** इति वचनात् । यमराजसदृशो भागवत्धर्माचार्यो भगवत्स्वरूपाचार्य: **यमः संयमतामहम्** इति गीतोक्ते: । तस्य भगवद् विभूतित्वात् निष्ठापि कियती दृढतमा यत् परेतभर्त्रा दत्तैस्त्रिभिरपि प्रलोभनैश्चाञ्चल्यं नागमत्, अत उत्तमश्रेणीक: अधिकारी अधुना किमपेक्षते यद् यद् अपेक्षितं तत् तत् प्राप्तम्, इदं सर्वं प्रदर्शयितुं प्रथमवल्लीयं प्रवर्तिता अतश्चैतां अधिकारिबल्लीति ब्रूम: । साम्प्रतमात्मविषयकं प्रश्नमुत्तरयितुं प्रारभते यमराज: अन्यदिति—

अन्यच्छ्रेयोन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुष ँसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽ र्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ।।१।।

यमराज: प्राह—वत्स समीचीनं पृष्टं, श्रेय एतत्, जगतीतले मानवकृते द्वौ मार्गौ प्रसिद्धौ श्रेय: प्रेयश्च, श्रेय: खलु परमार्थ: प्रेयो हि संसारबंधनम् । ननु यच्छ्रेयस्तत्प्रेय: यत्प्रेयस्तच्छ्रेय: इति कथमन्योन्यस्य अन्योन्यस्मिन्नगतार्थता ? इति चेच्छृणु–नेदमावश्यकं यत् श्रेय: प्रियं भवतु प्रेयश्च श्रेयसे कल्प्यताम् । कट्वौषधं प्रेयो न भवति परञ्च श्रेयसे कल्प्यते एवं च लसुनपलपलाण्डुभक्षणं श्रेयसे न कल्प्यते परञ्च प्रेयसे प्रभवत्येव, तथैव संसारपरमार्थयो: प्रेय:श्रेयसोर्मध्ये समुच्चिचीषया अलं, को नाम पीयूषकालकूटयो: समुच्चयं कर्तुं प्रभवति, को नाम गंगाकर्मनाशयो समुच्चयं कुर्यात् । यद्यपि श्रेयसि रत: प्रेय: प्राप्नोति किन्तु प्रेयसि रतस्य श्रेयो नितरां दुर्लभम् इममेवार्थं सुस्पष्टयति । श्रेय: भगवत् प्राप्तिसाधनभूतवर्त्म अन्यत् प्रेयसो विलक्षणम् एवमेव प्रेय: संसार: श्रेयसो विलक्षणम् ते श्रेय:प्रेयसी उभे द्वे शखे नानार्थे भिन्न-भिन्न प्रयोजनवती नैकप्रयोजने इतिभाव: । एवं भिन्नभिन्नप्रयोजनकत्वात् पुरुषं साधकं सिनीत: वध्नीत: । अथ द्वयोर्मध्ये कतरत् गृहणीयात् ? अत आह–तयो: श्रेय:प्रेयसोर्मध्ये श्रेय: परमार्थज्ञानपूर्वकभगवच्छरणागतिरूपं आददानस्य समादरेण गृहणत: साधु भवति । कल्याणं जायते । य: उ निश्चयेन कश्चन् साधनविडम्बनाडम्बरवान् प्रेय: वृणीते संसारमार्गमनुसरति अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूपप्रयोजनात् हीयते स: पतित: सन् त्यक्तो भवति ।।श्री·।।

अधुना पुनरपि श्रेय: स्तौति वत्स साधु श्रेय: पृष्टं, हि श्रेय: प्रेयश्च उभावपि निवृत्तिप्रवृत्तिरूपौ पक्षौ मनुष्यं मननशीलसाधकं इत: आदरेण गच्छत: ।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।।२।।

उभावपि इमौ मनुष्यं प्राप्नुतः, सम्परेत्य शरीरे सति सत्कर्म कृत्वा प्रारब्धं व्यक्त्वा धीरः तौ विविनक्ति, धीरः धीरबुद्धिः प्रेयः संसारात्, अत्र ल्यब् लोपे पंचमी प्रेयस्तिरस्कृत्य इति भावः । श्रेय कल्याणमेव भगवद्भजनं वृणीते, यः खलु मंदः सः योगक्षेमात् लब्धरक्षणरूपसंसाराद्धेतोः प्रेयः भोगवासनामेव वृणीते ।।श्रीः।।

अधुना नचिकेतसस्त्यागं प्रशंसति—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षी ।
नैताँ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ।।३।।

हे नचिकेतः ! वस्तुतस्त्वं श्रेयोऽधिकारी यतोहि त्वं प्रियान् इष्टान् प्रियः इष्टः रूपः परिणामः येषां तथाभूतान् सर्वान् कामान् अभिध्यायन् क्षणभंगुरतया चिन्तयन् अत्यस्राक्षीः आत्यन्तिकतया त्यक्तवान् । इमां तां वित्तमयी धनप्रचुराम् अत्र प्राचुर्ये मयट् सृङ्कां मालामवाप्तः प्राप्तः अत्यस्राक्षीः, यस्यां बहवो मनुष्याः जनाः मज्जन्ति मृगतृष्णाबुद्ध्या विषयसुखलिप्सवः मग्नाः भवन्ति ।।श्रीः।।

पुनरपि नचिकेतसः ब्रह्मविद्याधिकारं प्रशंसन् प्राह—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।।४।।

एते इमे विषूची शुभाशुभसूचिके विद्याअविद्या च ज्ञाते विदिते अनयोः न समुच्चयः, एते इमे दूरं विपरीते अत्यन्तं विलक्षणे उभयोः विरुद्धलक्षत्वात्, नचिकेतसं एतन्नामकं त्वां विद्याभीप्सिनं विद्याभिलाषिणं विद्यामभीसति तच्छीलः इति विद्याभीप्सी तं **सुप्यजातौणिनिणिस्ताच्छील्ये** इति णिनिप्रत्ययः । मन्ये स्वीकरोमि यतो हि बहवः अनेके कामाः भोग्यपदार्थाः न अलोलुपन्त न लोलुपं कृतवन्तः ।।श्रीः।।

नचिकेतसं बोधयन् अविद्यां गर्हते—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।५।।

अविद्यायां संसारवासनायां भिन्नायाम् अष्टधा प्रकृतौ अन्तरे मध्ये वर्तमानाः, स्वयम् आत्मानं धीराः धीरबुद्धयः पण्डितं मान्यमानाः पण्डितमानिनः, दन्द्रम्यमाणाः

विषयैः पुनःपुनः पच्यमानाः अन्धेन दृष्टिहीनेन नीयमानाः गम्यमानाः अन्धा इव नष्टचक्षुष इव मूढाः मूर्खाः, परियन्ति रौरव नरके पतन्ति अर्थात् अविद्यया नाशित-चेतसः नैव ब्रह्मगतिं लभन्त इति भावः ।।श्रीः।।

अधुना विषयगहनतां प्रतिपादयति—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।६।।

वत्स ! अयं साम्परायः विषयः अतीव गहनः, यः खलु अनधीतवेदान्तः यश्च निजलक्ष्यात् प्रमाद्यति यश्च धनलोभेन मूढः तादृशं बालमज्ञं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढमेनं साम्परायः मानवस्य मरणोत्तरकालिकदशाविशेषः न प्रतिभाति न प्रतीतिविषयः भवति । प्रतिभातिबालमित्यत्र **अभितः परितः समया निकषाहा प्रतियोगेऽपि** इति द्वितीया । अयं लोकः प्रत्यक्षजगत्, परः परलोकः नास्ति इत्थं परलोकविश्वासशून्यः परलोको नास्ति इति मानी एवं मन्यमाना मे मम मृत्योः पुनः पुनः वारं वारं वशम् आपद्यते नियन्त्रणम् आप्नोति । नास्तिकः सन् नैव मुक्तो भवति सदैव जन्ममरणचक्रावर्ते भ्रमति इतिभावः ।।श्रीः।।

पुनरपि नचिकेतसा पृष्टविषयस्य साम्परायस्य गहनतां संकीर्तयति—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।७।।

वत्स नचिकेतः ! यदात्मतत्वं त्वमप्राक्षीः सौभाग्येन श्रोतुमिच्छसि श्रुत्वा च ज्ञास्यसि वस्तुतोऽयं विषयः नैव सामान्यः । यः बहुभिः जिज्ञासुभिः श्रवणाय श्रोत्रेन्द्रियविषयीकरणाय न लभ्यः प्राप्यः, यमात्मविषयं शृण्वन्तः आकर्णयन्तः अपि न विद्युः नैवज्ञातुं शक्नुयुः । अत्र शकिलङि इत्यनेन शक्यार्थे लिङ्लकारः । वस्तुतस्तु अस्य आत्मविषयस्य वक्ता उपदेशकः आश्चर्यः आश्चर्यः अस्ति अस्मिन् इत्याश्चर्यः **अर्श आदित्वात्** अच्, आश्चर्यमय इति भावः, अस्य लब्धा प्राप्तिकर्त्ता कुशलः निपुणः अस्य ज्ञाता वेदिता आश्चर्यमयः । स च कुशलेन जनेन अनुशिष्टः सूपदिष्टः, इदमेव गीतायां प्राह सुस्पष्टं भगवान् **आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः आश्चर्यवच्चैन मन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद नचैव कश्चिद्** । (गीता २/२९) ।।श्रीः।।

पुनरात्मज्ञानस्य दौर्लभ्य्यं सूचयन् यमराज: प्राह नचिकेतसं यत् वत्स ! इदमात्मज्ञानं सामान्यं नास्ति यद् सामान्येन भोगवादिना प्रोक्तं सत् हृदयङ्गमं भवेत्, एष धर्म: अति सूक्ष्म: नायं लोकगम्य: । इदं खलु भगवत्साधनानिर्मलीकृतचेतसा ज्ञातुं शक्यम् ।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमान: ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।।८।।

अवरेण्ग सामान्येन अल्पीयसा नरेण मानवेन साधनाविहीनेन प्रोक्त: कथित: सन् स्वयमपि बहुधा बहुभि: प्रकारै चिन्त्यमान: विचारविषय: क्रियमाण: एष: अयमात्मविषय: न सुविज्ञेय: नैवज्ञातुं शक्य: । एतज्ज्ञानं केवलं वाचारम्भणं न भवति, एतत्पूर्वभूमिकायां शमदमादिसाधनानि भगवत्कृपाभगवद्भक्तिश्चापेक्षते, अतो गीतायां ज्ञानलक्षणप्रकरणे मध्यवर्तित्वेन भक्तिं प्राह भगवान् तथा च—**मयि चानन्योगेन भक्ति रव्यकिचारिणी** (गीता १३/१०) ननु साधनसम्पन्नवक्तारमन्तरेण स्वत एव श्रुत्यक्षराणि समालोच्य विचारणीयमिदमात्मतत्वं किम् ? इति धारणां निराकरोति, अत्र अस्मिन् आत्मविषये अनन्यप्रोक्ते अन्येन प्रोक्त: अन्यप्रोक्त: तद्भिन्न: अनन्यप्रोक्त: तस्मिन् अन्यप्रोक्तेऽतिरिक्त इति भाव:, अर्थात् यावदन्यं स्वातिरिक्तमाचर्येत्वेन न वृणुते तावदस्मिन्प्रवशो न भवति । यद्वा नास्त्यन्यं प्रोक्तं यस्मिन् तथाभूते, गति: गम्यता नास्ति । तात्पर्यमेतत् यद् वक्त्रा श्रोत्रा चोभाभ्यां साधकाभ्यां भवितव्यम् । अणु: सूक्ष्म: तस्य प्रमाणं मानं तस्मात् अणुप्रमाणात् अणीयान्, लघुतर:, अतोऽयं अवितर्क्यं न तर्कयितुं शक्य: । अत्र पुल्लिङ्गविशेषणत्वेऽपि सुपां सुलुगित्यनेन सोरमादेशश्छन्दस: ।।श्री:।।

भूयोऽप्यात्मविषये समादरं करिष्यन् तर्कान् निराकुर्वन् प्राह—

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमाप: सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेत: प्रष्टा ।।९।।

अथ परमप्रसन्नो यम: प्राह—वत्स ! त्वमद्य स्वकीयया प्रियतया मम सकलानपि प्रेमभाजोऽतिशेषे । प्रियेणानेन प्रश्नेन प्रियतमं परमात्मानं स्मारितवानसि यतो हि आत्मशब्दस्य वाच्यार्थतया प्रसङ्गेन स्मृतिपथमारूढयोर्जीवात्मापरमात्मायोश्च चर्चाकरणीया वर्तते, द्वयोरपि नित्यसम्बन्धात् नित्यसखित्वान्नैकं परिहृत्यापरस्य सत्ता वर्णयितुं शक्या । यथा पयसा सहभूतत्वात् पाथोऽपि विक्रीयते समानमूल्येन पार्थक्ये द्वयोरपि रसभङ्गापति:, तथैव सन्नपि क्षोदीयान् जीव: परमात्मना सह वर्तमानत्वात् समानसम्मानेन स्मर्यते

तथा चाह श्रुतिः **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता** । अत्र ब्रह्मणा सहेति वाक्यखण्डेन श्रुति स्पष्टं जीवब्रह्मणोः स्वरूपत ऐक्यं खण्डयामास । एवमुभयोः समानख्यातिः स्वतोऽपि सेवकस्याधिकतरं परमात्मस्वभावोऽपि । अतोऽहं गौणरूपेण परमात्मपरिकरतया जीवात्मानं व्याख्यास्यामि । विशेषतस्तु परमात्मानं विवेचयिष्ये किन्तु द्वयोरपि विवेचने वाचकतयात्मशब्द एवोपादास्यत इति विवेकः । अतः हे प्रेष्ठ ! स्मारितपरमप्रियव्युत्पन्नजिज्ञासो । एषा आत्मजिज्ञासा मतिः तर्केण वेदशास्त्रविरोधिना कुतर्केण न आसमन्तात् अपनेया दूरीकरणीया । कुतर्कतः खलु परमात्मपरीवादप्राप्तप्रत्यवायेन कुठारेणेव वृश्चते मतिरियं कल्पलतिकेव, तस्मात् नैव स्वयंभुवा ब्रह्मज्ञानिना वा भवितव्यं प्रत्युत् समित्पाणिना सोत्कमनसा श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठः सद्गुरुरुपसर्पणीयः तद्यथा मुण्डके— **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिःश्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्** । तमेवार्थमत्र समस्यति अन्येन स्वस्मात् भिन्नेन सेव्येन सद्गुरुणा प्रोक्ता प्रकर्षेणोक्ता प्रस्त्रयावनतशिष्यपृष्ठेन यथाशास्त्रमर्यादं निगदिता । एव अन्ययोगं व्यवच्छिनत्येवकारः भवत्प्रोक्तेति भावः, एवं सति बुद्धिरियं सुज्ञानाय, ब्रह्मबोधाय कल्पते यां पूर्वोक्तां परमपावनीं बुद्धि वत, आश्चर्ये सत्यधृतिः, सत्ये सत्यस्वरूपब्रह्मणि सदुपकारिणि वा परमात्मनि धृतिः, धारणा यस्य तथा भूतस्त्वं ब्रह्मणि सात्विकीं धृतिमापन्नः । इमामेव धृतिं श्रीगीतासु प्रशशंस भगवान् श्रीपार्थसारर्थिः, **धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थसात्विकी** (गीता १८/३३) प्रसन्नतातिरेकेण शुभाशीभिर्नचिकेतसं समर्चति । हे नचिकेतः जिज्ञासुशिरोमणे । त्वादृक्, भवादृक् नः, अस्माकं समक्षं पृष्ठा, एतावद्विमलप्रश्नकर्ता भूयात् । अत्राशिषिलिङ्लकारः सुप्रसिद्ध एव भवत्वित्यर्थः । अधुना यावन्मां कुकर्मणां जीवानां दण्डविधानसंहितामेव पृच्छन्ति स्म परिकरा मे, अयं कथं दण्डीयः अयं कथं दण्डीयः इति, त्वमद्य परमात्मानं पृष्टवानसि अयं कथमपरोक्षानुभूतिविषयः करणीय इति, ।।श्रीः।।

अधुना शिष्ये विश्वासोत्पादनाय तच्छ्रवणप्रवृत्तिप्रयोजकतया विषयेऽस्मिन् निजपारदृश्वतां प्रकाशयति—वत्स । कदाचित् तव मनसि संशयोऽयं समुदीयात् यत् पूर्वमुक्तं भवता **न नरेणावरेण प्रोक्त एष विज्ञेयः** अर्थात् एतत्प्रवचनेऽपि सामान्यनरो न क्षमते किन्तु भवान् सामान्यनर इव गृहमेधी सकलत्रः पुत्रपौत्रवान् जीवानामुग्रदण्डघरः प्राकृतो दृश्यते तर्हि कथं विरक्तशिरोमणिश्लाघनीयस्य ब्रह्मज्ञानप्रवचनस्य भवानधिकारीति कदाचित्कोऽपि तव सन्देहस्ते विनाशाय मा भवेत् इति उपस्थापयत्यग्रिमं मन्त्रम्—

जानाम्यहँ् शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेताश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ।।१०।।

यद्यप्यहं यमराजः, इति इत्थं जानामि ।

यत् अनित्यं नाशवत् द्रव्यं शेवधिः, सुखस्य सीमा अर्थात् यद्यत् नाशवत् तत्तत् ससीमं भवति । केचन शेवधिरिति शब्दस्य कर्मफलरूपनिधिरित्यर्थमपि व्याचक्षते तत्तु मृग्यं, शेवधिः शब्दस्य हि सीमन्यर्थे सर्वत्रप्रसिद्धत्वात् प्राकरणिकत्वाच्च । यद्यप्यहम् अनित्यपदार्थं सावधिकं जानामि इति प्रथम चरण सरलार्थः । इतोऽप्यग्रे भवान् जानाति नवेत्याह–नहीति अध्रुवैः ध्रुवाणि स्थिराणि तद्भिन्नैः भङ्गुरैः तत् श्रुतिप्रसिद्धं ध्रुवं नित्यपरमात्मतत्वं नहि प्राप्यते नह्यपरोक्षतया साक्षात्कियते । ततः तस्मादेव हेतोः मया यमराजेन श्रुतिविहितत्वात् नाचिकेतः एतन्नाम्ना प्रसिद्धः अग्निश्चितः चयनविषयः कृतः । ननु भवदुक्त्यननुसारं मम द्वितीयवररूपेण शिक्षितोऽयमग्निः, पुनः प्रसन्नतया दत्तेनापरवरेण **तवैव नाम्ना भवितायमग्निः** इति वदता यमेन नाचिकेताग्नेरर्वाचीनता निश्चिता तर्हि कथं नचिकेतसः पूर्व नाचिकेतो निश्चितः ? इति चेन् न भ्रमितव्यं त्वया श्रतीनां हि अतीतवर्तमानागतिज्ञानस्य करामलकसिद्धत्वात् । पूर्वं नाचिकेताग्निः श्रुत्याविहितः पश्चाद् शब्दमनुगन्तुं कृतार्थं भवितुं च अर्थरूपेण घटनेयं घटिता । अर्थो हि श्रुत्यनुगामी नैव श्रुतिस्तस्य । ननु नाचिकेताग्निश्चितो भवता यमेन किमनेन ? इति शङ्का निराकुरुते तत इति । यतोऽहं अनित्यकर्मणां सीमानं जानामि अनित्यवस्तुभिर्नित्यपरमात्मनश्चाप्राप्तिमपि वेद्मि तस्मादेव हेतोः नाचिकेतोविनिश्चितः। एतत् चयनेन समुत्पन्नापूर्वेण भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकप्रत्यवायान् व्यपोह्य श्रुविहितत्वात् अनित्यैरपि द्रव्यैः केवलं परमात्मप्राप्तिप्रतिबन्धककश्मलविनाशने सहायभूतैः नित्यं परमात्मानं प्राप्तवानस्मि साक्षात्कृतवानस्मि । निष्कर्षस्तु शास्त्रज्ञानेन कर्मणामनित्यतां ज्ञात्वापि श्रुतिविहिततया तानि न त्यजन् जनकादिरिवासक्तः प्रतिकर्म सकललोकलोचनाभिरामभगवच्छ्रीरामस्मरणं विदधानस्तदर्थमेव कर्माणि कुर्वाणो नाचिराल्लभते परमात्मपदपाथोजपरागरागरसिकताम् ।

स्तुतिप्रकरणमुपसंहरन् यमः नचिकेतसं ब्रह्मविद्यायाः समुपयुक्तमधिकारिणं घोषयन्नाह—यद्यप्यहं महता श्रमेण निष्कामबुध्या कर्माणि विधाय नाचिकेताग्निमसक्तश्चित्वा सुदुरूहमप्यात्मतत्वं तुभ्यं दित्सामि यतस्त्वमैहलौकिका मुष्मिकपदार्थतो निर्विण्णचेता असि तद्यथा—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।।११।।

हे नचिकेत: ! अतएव त्वमात्मतत्वाधिकारी यतो हि कामस्य लौकिभोगसमूहस्य आप्तिमुपलब्धिम् अथवा आप्यते लभ्यते यया सा आप्ति: तां प्राप्तिसाधनभूताम् अत्र करणे क्तिन्, तादृशीं जगत: संसारस्य प्रतिष्ठां सम्मानयोग्यतां क्रतो यज्ञस्य अनन्त्यमन्ते भवम् अन्त्यम् **अन्त्यच्चय** इत्यनेन यत्प्रत्यय:, न अन्त्यमनन्त्यमविनाशीति भाव: । अत्र फलमित्यध्याहार्य मेवं क्रतोरित्यत्रापि जात्याभिप्रायेणैकवचनम् । एवं श्रौतयज्ञानामभङ्गुरफलमितिभाव: । अभयस्य, अभयपरमपदस्य पारं परिसीमानं स्तोमं, स्तूयते इति स्तोमं स्तुतियोग्यं महत् परमपूज्यं तथाभूतं परमात्मन: परमस्थानं, यच्च उरुगायं उरुयागीयते तथाभूतं प्रतिष्ठां, तत्र स्थाने निश्चलां स्थितिं धृत्या धैर्येण दृष्टवा मया दत्तसम्पूर्णसामग्रीं निरीक्ष्यापि त्वमत्यसाक्षी: मयादत्तपदार्थान् मह्यमेव परावर्तितवानभू:, एतादृक् विरक्ताय निस्पृहाधिकारिणे यद्यात्मज्ञानं न दीयेत तदा कस्मै दीयताम् अतस्तुभ्यमुपदिशामि ।।श्री:।।

फल्गुतया नेदं त्वयोपेक्ष्यं वस्तुतस्तु उपदेशविषयोऽयं देव: अतीव दूरदर्श: अतस्तद्ज्ञानफलं कीर्तयते—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्षशौकौ जहाति ।।१२।।

दुर्दर्शं सुरैरपिदु:खेन द्रष्टुं शक्यं, गूढम् योगमायया संहृतं गुहसंवरणे इत्यस्यकर्तृ निष्ठान्तरूपमिदं, यद्वा कर्मणि निष्ठा तथा च अगुह्यत इति गूढ: तं, यं हि भक्ता: निजहृदयपटले गोपनीयतया समावृण्वन्ति तादृशम् । अनुप्रविष्टम् , सर्वस्मिन् चराचरे आनुकूल्येन व्याप्य स्थितं, गुहाहितं गुहा हृदयदेश: तस्मिन् आहितं स्थितमन्तर्यामितयेति भाव: । अतएव गह्वरेष्ठं गह्वरे चिन्तनवने स्थितं यद्वा गह्वरं स्नेहवनं तत्र स्थितम्—

तुलसी सुभग सनेह बन, सिय रघुवीर विहारु

इति मानसकृदपि गायति । यद्वा गह्वरं दुर्गमस्थानं तत्र तिष्ठति तथाभूतं यद्वा गह्वरे चित्रकूटवने तिष्ठति तथाभूतम् । ननु भविघटनाया: कथम् अत्र चर्चा प्रश्नोऽयं पूर्वं दत्तोत्तर: स च नाचिकेताग्निप्रसङ्गएवानुसंधेय: । एवं पुराणम्, पुरापि नवं तादृशं देवं परमात्मानम् अध्यात्मयोगाधिगमेन अध्यात्मविद्याचिन्तनरूपेण, मत्वा मननविषयं कृत्वा धीर: उत्कृष्टसाधक: हर्षशोकौ जहाति त्यजति, अर्थात् तस्मिन् प्राप्ते परमानन्दसुधावारिधिमग्न: आनुकूल्यप्रातिकूल्यताटस्थेन तिष्ठति । अप्रत्यया: नास्तिका: खलु विषमे विषीदन्तीति ध्वनितम् ।।श्री:।।

पुनर्ब्रह्मज्ञानश्रवणपरिणामं रोचनार्थं वर्णयति—

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतँ सद्म नचिकेतसं मन्ये ।।१३।।

हे नचिकेतः ! एतत् धर्म्यं धर्मयुक्तमात्मज्ञानं श्रुत्वा महापुरुषेभ्यः इति शेषः, सम्प्रगृह्य सम्यग्गृहीत्वा मर्त्यः मरणधर्मामनुष्यः प्रवृह्य एकान्ते निदिध्यासनंविधाय एतम् अणु सूक्ष्मम् आप्य, परमात्मसेवकत्वेन स्वरूपभूतमनुभूय मोदनीयं प्रसादनीयं स्वेन इति शेषः लब्ध्वा, सेव्यत्वेन प्राप्य, मोदते इष्टलाभेन प्रसीदति । नचिकेतसं त्वा प्रति परमात्मनः भवनं साकेतरूपं विवृतम् अनावृत्तद्वारं मन्ये । त्वं त्वनायासेन भगवत्सालोक्यं प्राप्तासि इति प्रत्येमि ।।श्रीः।।

इत्थं यमस्य प्रशंसावाक्यान्याकर्ण्य तत्कथनानुसारमात्मानं ब्रह्मज्ञानाधिकारिणं विभावयन् शीघ्रमेव परमात्मतत्वं शुश्रूषमाणः आत्मनश्च प्रशंसां श्रोतुमनिच्छन् यावत् यमराजो न व्यरंशीत् तन्मध्य एव नचिकेता सोत्कमनाः पप्रच्छ—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद ।।१४।।

नचिकेता सानुरोधं प्रार्थयते—हे देव ! यदि मां ब्रह्मज्ञानाधिकारिणं मन्यसे, यदि मयि कृपा ते तदा मम प्रशंसाम् मा कृथाः, यस्यात्मतत्वस्य महत्वं त्वमदः वर्णयः तस्यापि सेव्यं यत्परमात्मतत्वं तद्विषय एव पूर्वं भण्यतां । पूर्वं पृष्टमात्मतत्वं पश्चाच्छ्रोश्यामि साम्प्रतं तु तत् सेव्यं परमात्मतत्त्वं वर्णय । यत् धर्मात् श्रुतिविहितधर्मतः अन्यत्र अतीतं वर्तते यच्च अधर्मात् धर्मविरुद्धात् विकर्मणश्च अन्यत् अतीतः, यच्च अस्मात् एतस्मात् प्रत्यक्षात् कृताकृतात् कृतं कार्यं न कृतं यस्मिन् तदकृतं यद्वा कृतभिन्नमकृतं कारणम् एवं कृताकृतयोः समाहारं कृताकृतं तस्मात् कार्यभूतात् संसारात् कारणभूतात् हिरण्यगर्भाच्च अन्यत्र परस्तात् । एवमेव यच्च भूतात् भूतकालावच्छिन्नात् भव्यात् भविष्यतोऽपि यत् अन्यत्र परस्तात् वर्तते तादृशं यच्छब्दाभिलाप्यं यद्विशिष्टाद्वैतं तत् । अतनोत् इति तत् यद्वा अतन्यत् इति तत् सर्वव्यापकं सर्वत्रव्याप्तं च यदि त्वं पश्यसि अपारोक्ष्येण साक्षात्करोषि तद्वद तदेव ब्रह्मतत्तवं निरूपय । अत्र धर्माधर्माभ्याम् अन्यत्र कथनस्य तात्पर्यं तदेव ब्रह्मंनिरूपय यद्धर्माधर्मपरिहारपूर्वकविशुद्धशरणागतिलभ्यं । धर्मस्य फलं हि पुण्यं पापमधर्मस्य फलं द्वयोरपिबन्धनात्मकत्वात् ब्रह्म द्वे अप्यतीतं अतो गीतायाश्चरमे सोपदेशवाक्ये प्राह भगवान्—**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** । अतो भूयोप्यनिवृत्तं ततैवानुगीतायं त्यज धर्ममधर्मं च इति शेषं प्रागवत् ।

वस्तुतस्तु अन्यत्रशब्दः अन्याधिकरणकार्थपरोऽव्ययः अन्यस्मिनित्यर्थः नचिकेतसस्तात्पर्यमिदं यत्, यद्ब्रह्म धर्मात् धर्मलभ्य पुण्यजनित स्वर्गलोकात् अन्यत्र अन्यस्मिन् लोके विराजते, यच्च अधर्मात् वेदविरुद्धकर्मानुष्ठानापूर्वजनितनिरयलोकात् अन्यस्मिन् लोके साकेते विराजते यच्च कृताकृतात् कृतो मर्त्यलोकः अकृतो देवलोकः तत् समुदितादपि अन्यत्र भिन्ने धाम्नि विराजते, यच्च भूतात् भूतकालिकप्रारब्धजनितात् अथवा अभवन्निति भूतानि तल्लोकात् पितृलोकादिति यावत्, भव्यात् रमणीयतमात् ब्रह्मलोकादपि अन्यत्र, एवं धर्माधर्मकार्यकारणभूतभव्यविलक्षणे साकेतलोके वर्तमानं यदि त्वं परब्रह्मश्रीरामं पश्यसि तद्वद इति साम्प्रदायिकोऽर्थः ।।श्रीः।।

इत्थं षड्भ्योविलक्षणे वर्तमानं परमात्मानं प्रष्टुमुपक्रान्तं नचिकेतसमवलोक्य नामार्थयोरभेदप्रतिप्रत्या परब्रह्मतदनिर्वचनीयतत्वं वाचमन्तरेण निर्वक्तुमशक्यं मन्यमानः तस्य ब्रह्मणः मुख्यवाचकप्रणवोच्चारणव्याजेन सोपदेशं प्रारभमाणः **मंगलादीनि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते** इति श्रौतनिर्देशं स्मृत्वा मांगल्यकामः शिष्यस्य महामांगलिकमण्डलीको यमराजः पूर्वं प्रणवमनुशास्ति—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।। १५ ।।

वत्स ! यद्ब्रह्म पदं सर्वे वेदा ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या आमनन्ति आदरेण समभ्यसन्ति, यद्ब्रह्मपदं तपांसि, चान्द्रायणादीनि वदन्ति लक्ष्यज्ञापनेन साधकं स्थिरयन्ति अत्र **वद्स्थैर्ये** इत्यस्य प्रथमपुरुषबहुवचनान्तरूपम् एतेनैव भगवदीय इत्यपिसिद्धम् । अन्यथा भगवतः अयम् इति विग्रहे 'छ' प्रत्ययस्य 'भ' संज्ञाधिकारे पठितत्वात् तत्संज्ञापदत्वबाधात् तन्मूलकजस्त्वाभावात् भगवतीय इत्येव स्यात् । भगवदीय शब्दस्तु भगेषु ऐश्वर्येषु वदति जीवं स्थिरयति इति भगवद् तस्यायमिति भगवदीयं तथैवात्रापि । अनेन वदन्तीत्यस्य ख्यापयन्तीत्यर्थं कुर्वाणाः परास्ताः । तपसां वागिन्द्रियप्रतियोगिताकाभावात् तत्र वचनासम्भवः । एवं यदिच्छन्तः लिप्समानाः ब्रह्मचर्यम् अशास्त्रीयव्यवायवर्जन् रूपं चरन्ति समनुतिष्ठन्ति तदेव पदं ते तुभ्यं संग्रहेण अति संक्षेपेण ब्रवीमि कथयामि । किं तत् ? ॐ इत्येतत् वाच्यवाचकयोरभेदात् पदमित्युदिश्य ॐ इति विधीयते । तत् ब्रह्म ॐ मित्यक्षराकारं निराकारं, नराकारं सदपि बोधसौलभ्याय पूर्वमक्षराकारेणैव तदवगन्तव्यमिति हार्दम् ।।श्रीः।।

अधुना मन्त्रद्वयेन परमात्मवाचकं प्रणवं स्तौति—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।। १६ ।।

हि, निश्चयेन एतद् प्रणवाभिन्न प्रणववाच्यं वा एव नान्यद् अक्षरम् अशुव्याप्तौ अश्नुते सर्वं व्याप्रोतीत्यक्षरं ब्रह्म निर्गुणं ब्रह्म । एवम् एतद्ध्येव एतदभिन्नं कार्यकारणावच्छेदेनाभेद: परममुपसने निर्गुणब्रह्मणोऽपि प्रशस्यतरम् । अक्षरं न क्षरति न विनष्टं भवति तथाभूतं सगुणसाकारविग्रहमित्येनन सगुणं ब्रह्मनावरं तच्छरीरं च मायामयमिति व्याहरन्त: परास्ता तस्य ह्यक्षरत्वस्य श्रुत्यैवसङ्कीर्तितत्वात् । इत्थम् ॐ शब्दाभिधेयं निर्गुणं सगुणं च ब्रह्म निर्गुणपक्षे ॐ शब्दोऽव्युत्पन्न: सगुणपक्षे च व्युत्पत्न: । व्युत्पत्तयश्चैतस्य ऊनविशतिप्रदर्शिता: ईशोपनिषद्व्याख्यानप्रारंभे मया। एवम्, निर्गुणसगुणवाचवकम् एतत् ॐ कारमेव अक्षरम्, एकाक्षरं पदं हि निश्चयबुद्ध्या ज्ञात्वा शब्दार्थाभ्यां समधिगम्य आब्रह्मसाक्षात्कारं जपन्, य: यत्प्रकारक: साधक: यदिच्छति यत्कांक्षति तस्य साधकस्य समक्षं तत् तदेव प्रस्तूयते अर्थात् यदि ज्ञानवादी निर्गुण ब्रह्मानुबुभूषति तस्य समक्षं तदुपस्थाप्यते ॐकारविज्ञानमह्मिना । यदि कोऽपि सगुणोपासक: सगुणसाकारं नराकारं कृपाकूपारं कोशलेन्द्रकुमारं साक्षात् चिकीर्षति, तस्य तत् तस्य समक्षं तदेव रूपं प्रणवजपबलेन समुपस्थाप्यते । अत्र नामनामिनोरभेदं नाम्नश्च तारतम्ये तदपेक्षया नाम्नो गरीयस्त्वं श्रुत्यैव सूच्यते ।।श्री:।।

एतदालम्बन ँ् श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।१७।।

इदानीं नामिन: नामाधीनत्वं सूचयति–एतदेव ॐ कारं श्रेष्ठमुत्कृष्टतमम् आलम्बनमाश्रयम् । अत्र कर्मकरणयोल्युडर्थवैचित्र्यात् भाववैचित्र्यं बोध्यं तथा हि— लम्बते आश्रयते निर्गुणं सगुणं चापि स्ववाचकतया यत् तदालम्बनं नहि एतदुपेक्ष्य निर्गुणं ज्ञातुं शक्यं सगुणं वा ध्यातुं शक्यम् । आलम्ब्यते आश्रयविषये क्रियते ब्रह्म भक्तैर्येनमाध्यमेन तदालम्बनं विनानाम भगवानपि भजतुं न शक्यते । अत: प्रथमचरणे अलम्बनपदं कर्मल्युडन्तं द्वितांयपदे करणल्युडन्तं, यद्वा क्रमेण निर्गुणसगुणपरं तस्मात् एतत् प्रणवमेव आलम्बनं स्वकीयसाधनाधारं त्वा स्वीकृत्य साधक: ब्रह्मलोके ब्रह्म भगवान् राम: **इति रामपदेनासौ परब्रह्माभियीयते** इति श्रुते: । एवंविधस्य ब्रह्मण: श्रीरामचन्द्रस्य लोके साकेतलोके महीयते पूज्यते । ननु ॐ कारेण कथं राघवेन्द्रस्य साकेतलोक: प्राप्यते ? साधु पृष्टम् ॐ काररामयोरपि मध्ये भेदाभावात् । तथा हि उभावपि तारक ब्रह्मवाचकौ ॐकारस्तु वेदपाठाधिकारिणामेव समधिकृत: रामकारस्तु आविद्वत् चाण्डालेभ्य: आब्रह्मस्तम्वेभ्यश्च पाणिनीयननेतु राम शद्वादेव प्रणवप्रादुर्भावं निश्चिन्वन्ति वैय्याकरणधुर्या: । तथा हि राम इत्यत्र **प्रसोदरादीनि यथोपदिष्टम्** इत्यनेन वर्णव्यत्यय: एवं अ र आ मतेइति **स्थिअतोरोरप्लुतादप्लुते** इत्यनेन रकारस्य उत्वे

अ उ आ म अनन्तरम् आद्गुण: इत्यनेन गुणे ओ आ म अनन्तरम् **एङ:पदान्तादति** इत्यनेन पूर्वरूपे ओऽम् इति सिद्धम् एवं प्रणवरामयोरभेदाभिप्रायेण एतच्छब्दप्रयोग: ।।श्री:।।

इत्थं नचिकेतस: प्रत्यग्रप्रश्नानुसारेण त्रिभिर्मन्त्रैनिर्गुणसगुणब्रह्मनिरूपणं निरूप्य तेष्वेवमन्त्रेषु **यदिच्छन्त: एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा योयदिच्छति ब्रह्मलोकेमहीयते** इत्यादिभिर्वाक्यखण्डै: ब्रह्मणो जीवपार्थ्यक्यं सुस्पष्टं समभिधाय, पुन: कीदृशं तत्स्वरूपं य: खलु निर्गुणब्रह्मानुभवितुं सगुणं च ब्रह्मसाक्षात्कर्तुं क्षमते किं दृश्यमानं शरीरमेव स:, किं वा शरीरस्य कश्चनावयव: अथवा संकल्पात्मकं मानसं स:, उताहो विषयगोचराणि हृषीकाणि उताहो व्यवसायात्मिका बुद्धि:, किम् अस्मदादिरिव सोऽपि जायते म्रियते वा वयमिव सोऽपि कस्यापि पुत्रो वा वयमिव बाल: वृद्धो वा इति अनेकविधप्रश्नचयेन जिज्ञासमानं नचिकेतसम्प्रति वरदानानुसारेण तृतीयप्रश्नमुत्तरयन् यम: भगवद्भक्तशिखामणि: प्रत्यगात्मस्वरूपं विवेचयति न जायत इत्यादि—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यामने शरीरे ।।१८।।

विपश्चित् विशेषेण संसारपरमात्मविवेचनपूर्वकं पश्यतीति विपश्चित् यद्वा विविधरूपेण परमात्मानं पश्यतीति । विपश्चित् यत्तु विपश्चित् इत्यस्य नित्यज्ञानवान् इति व्याचक्षते तदसंगतं नियज्ञानवत्वस्य हि परमात्ममात्रनिष्ठधर्मत्वात् । न जायते नैव रज:शुक्रमाध्यमेन जन्मगृह्णाति, न म्रियते न प्राणैर्वियुज्यते इत्यनेन जीवात्मन: स्थूलशरीरतो वैलक्षण्यं दर्शितम् । अयम् जीवात्मा कुतश्चित् काभ्यांचित् मातापितृभ्यां न बभूव, अत्र परोक्षे लिट् पारोक्ष्येणापि न जात: प्रत्यक्षस्य का कथा । ननु भो: । तैत्तारीयोपनिषदि **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इति श्रुत्या जीवात्मनो जन्म कण्ठरवेणोक्तम् **जन्माद्यस्य यत:** इति ब्रह्मसूत्रेणापि परमात्मावधिकजीवात्मजन्मसूचितम् एतस्यां च श्रुतौ नायं कुतश्चिदित्यनेन तज्जन्मनिषेधोऽपि सूच्यते इति विरूद्धमर्थद्वयं कथं समञ्जसम् ? सत्यमेव पृष्टम्, श्रूयतां सावधानम्–यतो वा इमानि भूतानि, जन्माद्यस्य यत: इत्युभयत्र यच्छब्द: परमेश्वरवाचक: नायं कुतचिदित्यत्र किं शब्द: प्राकृतप्राणे सङ्केतक: । तात्पर्यमेतत् यदात्मायं नैव कस्माच्चित् प्राणिन: प्रसूयते परन्तु प्रलयकाले सर्वेऽपि जीवात्मान: परमात्मनि प्रलीयन्ते पुन: प्रभवे तत् एव परमात्मन: पूर्वसर्गकर्मानुसारं तत्तच्छरीराणि प्राप्य जायन्ते, अतएव श्रुति: **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** । इममेव सिद्धान्तं गीतायां सुस्पष्टयामास भगवान तथा हि—

अव्यक्ताद्व्यक्तय: सर्वा: प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।
भूतग्राम: स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवश: पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।

(गीता ८/१८,१९)

वस्तुतस्तु यत: इमानि भूतानि जायन्ते इत्यस्या: श्रुतेरिदं तार्त्पर्यं यत् -जीवात्मा यदि परमात्मन: जायते तदा शरीरविशिष्ट: शरीरावच्छेदमन्तरेण तु परमातमन्येव जीवात्मा तिष्ठति इत्येव भूतानि इति व्याहरन्त्या: श्रुतेर्हार्दं प्रतिभाति मे । अतो न विरोध: यद्वा कुतश्चिदित्यनेन प्राणितोजन्मनिषेधो जीवात्मन: न तु परमात्मन: **श्रुण्वन्तु विश्वेअमृतस्य पुत्रा:** इत्यत्र जीवात्मकृते पुत्र व्यवहार:, पितृव्यवहारस्तु परमात्मनि **पितासि लोकस्य चराचरस्य** इति स्मृते: जीवात्मा परमात्मन: पुत्र: तत्सत्ता परमात्मसत्ताधीना । ननु भो: ! अत्र जीवात्मा परमात्मपुत्र: कथ्यते मुण्डके च तत्सखित्वेन व्याहृत: यथा **द्वासु पर्णा सखुजा सखाया** तर्हि एकस्यां व्यक्तौ व्यवहारद्वयं कथं संघटयेत ? इति चेत् सुगमा संघटना स्वस्थमस्तिष्केन विभाव्यताम्—पुत्रोऽपि रूढवया समानशील: पित्रा मित्रत्वेन व्यवह्रियते । द्रष्टव्यं स्मार्तवाक्यमपि—

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत् ।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ।।

स एव व्यवहारो जीवात्मपरमात्मनोरपि ज्ञेय: । अत्र षोडशवर्षस्थाने षोडशगुणा: । पथिगच्छतो सार्धमेव पितृपुत्रयो: मित्रव्यवहार: प्रसिद्ध: **पथि मित्रवदाचरेत्** तथैवात्रापि एकमेवशरीरं माध्यमीकृत्य संसाररूपे पथि गच्छतो: जीवात्मपरमात्मनोरपि सख्यव्यवहार: सुघट:, किन्तु पितापुत्रव्यवहारस्तु पारमार्थिक:अतएव **ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:** इति भगवानपि व्याहरति । ये तु अखण्डे ब्रह्मणि खण्डानुपपत्ति शङ्कमाना: अंशशब्दम् अंशसदृशे लाक्षणिकतया तात्पर्यग्राहकं मन्वाना: विजल्पन्ति ते तदुत्तरमेव सनातनशब्दव्याकोपं नावदधति, यदि चेत् सनातनो जीवभूत: भगवदंश: तर्हि तत्र तत्सादृश्यमनुपपन्नं सदृशो हि न सनातन: लक्षणा च कादाचित्की भविष्यति, नहि सर्वदैव गङ्गापदं भगीरथरथखातावच्छिन्नजलप्रवाहोपलक्षिततटे लाक्षणिकं तत्र शैत्यपावनत्वपिपाशाशामकत्वादियोग्यतानामभावात् । इत्यनेन उपाधिकल्पनया जीवस्य परमात्मांशत्वं वदन्त: परास्ता: । अथ कथं तर्हि मुख्यवृत्या अंशशब्दस्य तात्पर्यविचारे अखण्डपरमात्मनि खण्डत्वं संगच्छेत् ? अहो ! अज्ञातशाब्दिकसिद्धान्ता: भवन्त:

नशेरतां वयं तु व्याकरणकाननविहरणपरायणकण्ठीरवाः सारल्येन समादध्महे। अश्नाति पैतृकसम्पत्तिं भुङ्क्ते इत्यंशः पुत्रः जीवात्मा खलु भगवतैव चराचरात्मिकां भोग्यसामग्रीं भुङ्क्ते परमात्मा तदर्थमेव समुपभोगसाधनानिनिर्मायते स्वयं चाभोक्ता **अनश्नन्नयो अभिचाकशीति** इति श्रुतेः। प्रकृते अयं जीवात्मा कुतश्चित् प्राणिविशेषात् न बभूव अस्मादपि कश्चित् कोऽपि, परमार्थतस्तु सर्वेऽपि जीवात्मानः परमात्मनः प्रादुर्भवन्ति। नहि कोऽपि कस्माच्चित्। अयमेव राद्धान्तश्चित्रकेतूपाख्याने समुद्गीतः श्रीशुकाचार्यचरणैः। इत्थं स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणि चतुर्भिर्विशेषणैर्निराकृत्य पुनस्तान्यभ्यसति अद् इत्यादि तृतीयचरणेन, यतो न जायते तस्मात् अजः, जन्मना परमाज्जायते इति अजः यतो न म्रियते अतः शाश्वतः शश्वदयं निरन्तंर वर्तमानत्वात्, यतो नायं कुतश्चिद् अतो नित्यः। नित्यत्वमेतस्य जगदपेक्षया परमात्मापेक्षया त्वनित्यत्वं तज्जातत्वात्, अतः अजोनित्य इत्यत्र परमात्मसन्दर्भे अकारप्रश्लेशो बोद्धव्यः अजः अनित्यम् इति विग्रहः। यतोऽस्मात् कश्चिन् न बभूव अतोऽयं पुराणः पुरापि नवः सर्वदैव परमात्मशावकया शिशुः, न वा युवा न वा वृद्धः यूनो हि कश्चिज्जायते न तु शिशोः। अथ पुराण इत्यस्य पुरानव इति कथं व्याख्यानं ? महर्षयोऽपीत्थं व्याचचक्षिरे। उपसंहरन् प्राह– नेत्यादि। शरीरे, सरति गच्छति नित्यमावागमनशीलमिति भावः, यद्वा शीर्यते विनष्टं भवतीति शरीरम्। तादृशं शरीरे हन्यमाने स्थूले शरीरे कुठारादिना छिद्यमाने सूक्ष्मे कारणे च सेव्यसेवकभावबोधरूपज्ञानाग्निना दह्यमानेऽपि, अयं न हन्यते नैव केनापि हिंसितुं शक्यते भगवद्भजनमकुर्वाणेन स्वेन हिंसितुं शक्यत एव अतएव श्रीभागवतकारः आत्महा अपशुघ्नः इत्यादि वारं वारं व्याजहार। आत्मनो हननं हि भगवद्विमुखता तज्जीवनं तु जानकीजीवनचरणारविन्दप्रेममकरन्दरूपसंजीवनीसुधापानम्।

अतः प्राचेतसः प्राह श्रीमद्रामायणेऽयोध्याकाण्डे **यश्च रामं न पश्येत्तु यञ्च रामो न पश्यति। निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माऽप्येनं विगर्हते॥ श्रीः॥**

(वा० रा० २-१७-१४)

इदानीमुक्तमेवार्थं भूयः स्पष्टयति–

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते॥१९॥

यः कश्चन अपरं जनं हन्तुं हिंसितुमहं हन्ता इमं हनिष्यामि इति मन्यते, यः कश्चन केनचित् हतः हिंसित आत्मानं हतं मारितं मन्यते, वस्तुतः उभौ हन्तृहतौ न विजानीतः नैव विविच्यावगच्छतः। हन्तुः हन्तृज्ञानं हतस्य हतज्ञानञ्च अव्यावहारिकं

मिथ्या च । हन्यते तु शरीरम् आत्मा नैव हन्यते न वा हन्ति । अतः स्पष्टयति—अयं जीवात्मा न हन्ति न कमपि हिनस्ति, न हन्यते न केनापि हिंस्यते, सर्वेऽप्यात्मानः समानसत्ताकतया परमात्मनियन्त्रण एव तिष्ठन्ति, **न जायते म्रियते** इति पूर्वमुक्तम्। आशयोऽयमृयन्मरणं नाम प्राणवियोगः शरीरस्य, प्राणाः क्षणभङ्गुरत्वात् वियुज्येरन् कामं परञ्च आत्मनः प्राणं तु परमात्मा **''स उ प्राणस्य प्राणः''** इति श्रुतेः । तेन तस्य वियोगस्त्रिकालमपि न सम्भवः, परमात्मसदृशे सख्यौ पितरि वर्तमाने समीपे क इमं पीडयेत् इति भावः ।। श्रीः ।।

इति मन्त्रद्वयेन नचिकेतसस्तृतीयवररूपप्रत्यगात्मजिज्ञासामनुसरन् समासतः साम्प्रतमात्मपरमात्मनोः सम्बन्धमीमांसां विवृणोति । सम्बन्धज्ञानमन्तरेण भगवद्प्रपत्तिरसम्भवा अस्मादस्मन्नये अर्थपञ्चकं संक्षिप्य ज्ञानायार्थत्रयं सिद्धान्तितम्। जीवपरमात्मतत्सम्बन्धस्वरूपविवेचनमेव ज्ञानम् । तथा चाह गोस्वामिपादः —

हम लखि लखहिं हमार लखि, हम हमार के बीच ।
तुलसी अलखहिं का लखहिं राम नाम जप नीच ।।

अत्र, 'हम' इति पदेन अहमर्थो जीवः । 'हमार' इति पदेन अस्मदीयः परमात्मा । ''हम हमार के बीच'' इति पदेन जीवात्मपरमात्ममर्ध्यवर्ती सेवकसेव्यभावसम्बन्धः । इममेव सम्बन्धं व्याख्यात्यग्रिमा श्रुतिः अणोरित्यादि–

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।।२०।।

परमात्मा जीवात्मनो निर्धारिते शरीरे तस्मिन्ननुरागातिशयात् तेन सहैव तिष्ठति । किन्तु निजोपस्थित्या तं न बाधते । शरीरे यावदवकाशे प्रत्यगात्मा तिष्ठति ततोऽप्यल्पीयसि हृदयैकदेशे परमात्मा । अत्र मन्त्र आत्मा इति शब्दः परमात्मपरकः, आप्नोति सर्वं व्याप्नोति यः स आत्मा इतिः व्युत्पत्तिः । **गुहां प्रविष्टावात्मानौ** इति ब्रह्मसूत्रम् । तत्र आत्मा परमात्मा पुनरात्मप्रत्यगात्मनोर्द्वन्द्वमेकशेषश्च । अथ तयोः वैलक्ष्यण्ये सिद्धे वैष्णवाम्नाये कथं सारूप्यं, तदभावे च **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** इति सूत्रेण कथमेकशेषः ? इति चेच्छ्रूयताम् । अत्र सूत्रे सारूप्यं द्विधा शब्दतश्चार्थतश्च । सरूपस्वं नाम समानरूपत्वं यथा रामाः इत्यत्र रामश्च रामश्च रामश्च इति विग्रहे रामः जामदग्न्यः रामः दाशरथिः रामः वासुदेवः एषामर्थवैभिन्नेऽपि आनुपूर्व्या सरूपत्वादेकशेषः रामाः जामदग्न्यदाशराथिवासुदेवाः इत्यर्थः । अत्र शब्दतस्सारूप्यम् अर्थतस्सारूप्यं च आनुपूर्व्यां वैरूप्येऽपि अर्थसारूप्ये एकशेषः । यथा घटश्चकलशश्च इति घटौ । अत्र यद्यपि घटस्य

कलशस्य च आनुपूर्व्यां वैरूप्यं किन्तूभयोरर्थसारूप्ये एकशेषः । स्पष्टितं चेदं कात्यायनेन **विरूपाणामपि समानार्थानाम्** इति वार्तिके । अत्र शब्दकृत सारूप्यसिद्धान्तेन समाधानमवगन्तव्यम् । एवम् उभावपि प्रतयगात्मपरमात्मानौ प्रतिशरीरं गुहायां तिष्ठतः । किं द्वौ समानसत्ताकौ उताहो एकस्मात् एकतरं न्यूनम् ? इत्यत, अयं परमात्मा प्रत्यगात्मावकाशसापेक्षावकाशः । अतः अणोः लघोरपि अणीयान् सूक्ष्मतरः, इयं सूक्ष्मता शरीरनिवासावकाशनुरोधेन, वस्तुतस्तु महतः महत्सपन्नादपि जीवात्मा महीयान्, महिमवत्तरः । महान् शब्दः प्रत्यगात्मपर्यायः **बुद्धेरात्मा परो महान्** इत्यत्रैव श्रुतेः । यद्वा अत्र षष्ठी तथाहि—महान् प्रतयगात्मत्वस्यापि महतः महीयान् पूजनीयः, एवं भूतः आत्मा अस्य शरीराधिष्ठितस्य जन्तोः, जनिं प्रादुर्भावं तनोति विस्तारयतीति जन्तोः अजन्मापि प्रत्यगात्मा भ्रमवशात् स्वस्मिन् संसारसम्बन्धं कल्पपित्वा आत्मानं कर्ताऽहं भोक्ताऽहमिति मन्यमानः विस्मृतपरमात्मपदपाथोजमकरन्दः विसृष्टभगवद्भजनानन्दः अनेकयोनिषु सूकरकूकरादिषु जनिं तनुते । अतो जन्तुः **तेन मुह्यन्ति जन्तवः** इति स्मृतेः । तस्य जन्तोः मोहमोहितचेतसः प्रत्यगात्मनः गुहायाम् अज्ञानसंवृतहृदयावकाशे निहितः निष्क्रियः सन् तिरोहितः स्वहृदयस्थमेनं नैवजन्तुरेतत् पश्यतीति भावः । तं कः पश्यति ? इत्यत आह 'अक्रतुः' क्रतुरत्र उपलक्षणतया यज्ञादिकर्मजनितफलसङ्कल्पान् त्यक्त्वा यः खलु सकलकर्मफलतया भगवद्दर्शनमेव याचते स एव अक्रतुरितिभावः । तथा हि श्रीमानसे श्रीरामं प्रति श्रीगोस्वामिपादाः–

मन्त्रराज नित जपहि तुम्हारा । पूजहिं तुमहिं सहित परिवारा ।
तर्पन होम करहिं विधि नाना । बिप्र जिवाइ देहिं बहुदाना ।।

सबकर मांगत एक फल, रामचरनरति होउ ।
तिनके मनमन्दिर बसहु, सियरघुनन्दन दोउ ।।

(मानस अयो, १२९/६,७)

एवंभूतः वीतशोकः, निरस्तप्रियजनविश्लेशजन्यदुःखः, भगवत्येव तेन समस्तसांसारिकसम्बन्धिप्रीतिसमवधानात् । एवंविधः साधकः धातुप्रसादात्, दधाति सम्पूर्णं जगत् धारयति पुष्णाति च यः स धातुः परमात्मा **अनादिनिधको धाता विधाताधातुरूत्तमः** (विष्णुसहस्रनाम-५) इति विष्णुसहस्रनाम्नि धातुशब्दस्य विष्णोः नामसु सप्तचत्वारिंशन्नामतया सङ्कीर्तनात्, एवं धातोः जगद्धारकपोषकस्य परमेश्वरस्य प्रसादः कृपा **मत् प्रसादात् तरिष्यसीति** वचनात् । इति धातुः प्रसादः तस्मात् अत्र हेतौ पञ्चमी, परमेश्वरकृपाप्रसादहेतोः इति भावः । आत्मनः परमात्मनः महिमानं भक्तवात्सल्यादिगुणगणं पश्यति साक्षात्करोति । यन्तु केचन धातुशब्देन धात्वाधारतया

समनस्केन्द्रियरूपमर्थं व्याचक्षते । तथा हि-धातवः समनस्मकानि इन्द्रियाणि तेषां प्रसादः संयमः तस्मात् इन्द्रियजयादिति भावः, तदस्वारसिकतया नाद्रियावहे । धातुशब्दस्य हीन्द्रियरूपार्थे अष्टानामपि व्याकरणादिशक्तिग्रहणां कतमस्याप्यप्रवृत्तेः । मम तु धातुशब्दस्य परमेश्वररूपार्थे विष्णुसहस्रनामरूपस्मृतिवचनमेव प्रमाणम् ।। श्रीः ।।

अथ यदि परमात्मा प्रतिशरीरम् आत्मनैव सह तद्गुहायां तिरोभूय तिष्ठति, तर्हि कथं परमभागवतशिखामणीनां लोचनविषयतामापद्यते, कथं वा ज्ञानिनामपरोक्षानुभव विषयो भवति, कथं वा चराचरे तद् व्यापकता सिद्ध्यति ? इति जिज्ञासात्रयं समादधाना श्रुतिः प्राह–

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ।।२१।।

पूर्वस्मिन् मन्त्रे धातुः प्रसादात् अक्रतुः वीतशोकः आत्मनः तं महिमानं पश्यतीत्युक्तं तत्र **आत्मशब्दः परमात्मपरः** इत्यस्मिन् मन्त्रशकले जन्तोरित्यत्र षष्ठी आत्मेत्यत्र च प्रथमा । षठ्यर्थौ हि सम्बन्धः स च प्रतियोग्यनुयोगिनावपेक्षते । अतः जन्तुः प्रतियोगी तद्गुहा चानुयोगी, तदाधेय आत्मा प्रथमा विभक्त्यर्थः । एवं जीवात्मपरमात्मभेदः सुस्पष्टं प्रतिपादितः । नहि स्वः स्वस्मिंस्तिष्ठति अतो जीवात्मनामधेयजन्तुहृदयगुहायां परमात्मा सूक्ष्मतः महतोऽपि महत्तरः सन् दूरं व्रजति गच्छति तद्गमनेऽपि न क्षीयते तदचलत्वम् । एवं शयानः सुप्यमानसकलेन्द्रियव्यापारोऽपि सर्वतः सर्वेषु स्थानेषु याति, गच्छति । सर्वत इत्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसेः न तु तसिल् । अत्र केचन स्वकल्पितसिद्धान्तभङ्गभिया व्रजतीत्यत्र व्रजतीव यातीत्यत्र यातीव इत्थमुभयत्र व्रजनयानक्रिययोः इवेति अध्याहरन्ति तदनुचितं श्रुतावस्यां कुत्रापिभागे इवार्थाश्रवणात् । वस्तुतस्तु आसीनो दूरं व्रजतीत्यस्य भावोऽयं यद्गमनेन्द्रियमनपेक्ष्यैव दूरं सुदूरं व्रजति । शयानो यातीत्यस्य मुद्रितनेत्रोऽपि लोचनेन्द्रियमनपेक्ष्य तत्तत्स्थानस्थित भक्ताह्वानमनुश्रित्य सर्वत्र याति ।

एवमेककाल एव परस्परविरूद्धधर्माश्रयत्वमेव तन्महिमा । यद्वा आसीनः साकेतलोके कनकसिंहासने समुपविष्टः दूरं व्रजति अवतारकाले सुदूरवनयात्रामाचरित । तथा च शयानः अन्तर्यामितया जीवहृदये गुहायां क्रियमाणशयनोऽपि सर्वतः सुभक्तपार्श्वे गच्छति । यद्वा सर्वत इत्यत्र पञ्चम्येव यत्र भक्त आह्वयति तस्मात् स्थानात् स्वं प्रकटयति यथा प्रह्लादकृते स्तम्भात् । एवं महिमसम्पन्नं को जानाति ? इत्यत आह-मदामदम्, 'मदि हर्षसम्मोहयो''' तथा च माद्यति सगुणः सन् भक्तसुखेन हृष्यतीति मदः न माद्यति नहि हृष्यति दुर्योधनादौ निर्गुणत्वात् इत्यमदः मदश्च अमदश्चेति मदामदः तथाभूतम् । तथा च मानसे–

सुख मानत सेवक सेवकाई । सेवक बैर बैर अधिकाई ।।

यद्वा मद: ऐश्वर्यमद: तस्मिन् सत्यपि अमदम् ऐश्वर्याभिमानशून्यं सारल्यगुणवत्वात् । वस्तुतस्तु मकारो जीव: शिवस्वरूप: **म: शिवश्चन्द्रमाश्चेति** इति कोषात् । एवं मपदवाच्यानां जीवानां दामानि बन्धनानि द्यति खण्डयति इति मदामदत्वम् । यद्वा म: चन्द्रमा स एव भगवान् कृष्ण: एवं भूत: दामानि यशोदाकृतोलूखलबन्धनदामानि आदत्ते स्वीकरोति । तथाभूतं देवं भक्तैः क्रीडन्तं श्रीरामं कृष्णं वा मदन्य:, मदतिरिक्तो देवं क: ज्ञातुमर्हति योग्यो भवति ।। श्री: ।। अस्मिन् शरीरे प्रत्यगात्मना सह परमात्मा तिष्ठतीत्युक्तं, तर्हि किमयं सशरीरस्तिष्ठत्युताहो अशरीर: इत्यत आह—

अशरीर ँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।२२।।

अनवस्थेषु क्षणभङ्गुरेषु शरीरेषु शीर्यमाणेषु देहेषु, गुहावच्छेदेन अशरीरम् अस्पष्टं शरीरं यस्य तथाभूतस्तम् अवस्थितं धृतावस्थम् । यद्यपि शरीराणि क्षणभङ्गुराणि अनवस्थितानि तथापि शरीरधर्माणामस्मिन् न कोऽपि प्रभाव इति हार्दम् । एवं भूतं महान्तं मुनिगणैरपि ध्येयतया पूज्यमानं विभुं सर्वव्यापकम् आत्मानम्, प्रत्यगात्मसखं परमात्मानं मत्वा अवबुद्ध्य धीर: न शोचति हर्षशोकातिगो भवतीति भाव: । शोको हि प्रियतमवियोगे भवति, यदि जीव: परमप्रियतमतया परमात्मानमेवाध्यवस्यति तदा शोकस्य प्रश्न एव नोत्तिष्ठति ।। श्री:।।

ननु योऽयं परमात्मा प्रत्यग्रं मन्त्रत्रयेण वर्णित: स केन प्रकारेण लब्धुं शक्य: ? इति जिज्ञासां समाधत्ते श्रुति: 'नायमित्यादिना–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु ँ स्वाम् ।।२३।।

अयं पूर्वमन्त्रत्रयवर्णितमाहात्म्य: जिज्ञासूनामति सन्निकृष्ट आत्मा परमात्मा, प्रवचनेन वेदाध्यापनेन न लभ्य:—न लब्धुं शक्य: । यत्तु प्रवचनेन वेदस्वीकरणेन इति व्याचक्षते तत् प्रौढिवादमात्रं श्रुतिविरोधादुपेक्ष्यं च, स्वीकृतवेदो हि परमात्मानमवश्यं प्राप्नोति **शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधि गच्छति** इति स्मृते: । तथ्यतस्तु प्रवचनं शास्त्राध्यापनम्, अतएवाह महाभाष्ये पतञ्जलि: ''चतुर्भिर्प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यावहारकालेन चेति''

ननु श्रुत्यनुसारेण प्रवचनेन नैव लभ्योऽयमात्मा तर्हि पुनस्तैतरीयाश्रुति: कथं निषेधमुखेन पठति **स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्** इति चेत् सत्यम् । अत्र श्रुतेस्तात्पर्यमेतत् यत्केवलेन प्रवचनेन अर्थात् अध्यापनेन न लभ्य:, केवलया मेधया

न लभ्यः, केवलेन बहुना श्रुतेन न लभ्यः । अत्र रहस्यमेतदवगन्तव्यं यत्—श्रुतिरेषा परमात्मप्राप्तिमाध्यमेष्वन्यतमानि प्रवचनमेधाश्रुतानि त्रिर्नकारमुच्चार्य परमात्मप्राप्त्युपायत्वेन स्वीकृतानि निषेधयति । अत्र त्रिषु करणे तृतीया, तच्च क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं कारकं सत् करणं भवति । तथा हि सूत्रं **साधकतमं करणं** फलितमेतद्यदि कोऽपि साधकः परमेश्वरलाभरूपक्रियासिद्धौ प्रवचनमेव प्रकृष्टोपकारकं मन्यमानः तेन करणभूतेन यतते तदा स नाप्नोति परमात्मानम् । एवमेव यदि कोऽपि भगवत् प्राप्तिं प्रति मेघामेव प्रकृष्टोपकारकत्वेनाध्यवस्यन् तया करणभूतया शास्त्रधारणबुद्ध्या यदि चेत् प्रयतते तदापि नाप्नोति । एवमेव यदि कोऽपि बहुश्रुतमेव वेदादिश्रवणं भगवत्प्राप्तौ प्रकृष्टोपकारुं मन्वानो भगवते प्रयासं करोति तदापि स वितथप्रयत्नो भवति । एवमत्र श्रुति प्रवचनमेधाबहुश्रुतानां केवलं भगवत्प्राप्तिक्रियां प्रति प्रकृष्टोपकारकत्वं निषेधयति, न त्वमीषामनुष्ठानम् । **तस्माद् स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां मा प्रमदितव्यम्** एतस्यायमेव अभिप्रायः यत्-नित्यं स्वाध्याय प्रवचने कर्तव्ये । नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः एतस्येदं तात्पर्यं यत्-श्रुतिविहिततया प्रवचनं तु कर्तव्यं किन्तु तदेव न कर्तव्यं यथा सम्पूर्णदिनं तस्मिन्नेव व्यतीतं स्यात् संध्यादिकमपि त्यक्तं स्यात् । इत्थमध्यायनापरपर्यायं प्रवचनं भगवत्प्रापतौ पुण्यजनकतया सामान्यभूतमुपकारकं मन्येत । एवमेव न मेधया, मेधा शास्त्रधारणशक्तिः तया केवलया नहि अपितु सहायभूतया । शास्त्राणि खलु भगवत्प्राप्तिप्रतिबनधकप्रत्यूहनिर्वहणकर्माणि विधेयत्वेन निर्दिश्य निवर्तन्ते । एवमेव बहुना श्रुतेन श्रुतशब्दोऽत्र शास्त्रवाचकः । यदि कोऽपि बहूनां शास्त्राणामध्ययनमेव परमात्मलाभे प्रकृष्टमुपकारकं निश्चिन्वानो तस्मिन्नेव सम्पूर्णं समयं नियोज्य भगवन्नामरूपलीलाधामतो विरमन् तेन यतते तदापि आत्मा परमात्मा न लभ्यः । यत्तु केचिदत्र आत्मा प्रत्यगात्मा इति व्याचक्षते तदप्यसङ्गतम् । स्पष्टं नचिकेतसा चतुर्दशे मन्त्रे परमात्मानं प्रत्येव जिज्ञासितत्वात् । इत्थं चरणद्वयेन त्रीणि साधनानि निषिध्य जगद्वत्सला परमकारूणिका श्रुतिः तत्प्राप्तौ मुख्यसाधनं कथयति यमित्यादि । एषः, अस्मच्चर्चाविषयपरमात्मा यं कश्चित् सद्गुरूचरणकमलेषुः विध्वस्तरजस्कं एवं भूतं सत्संगजाह्नवीजलपूतहृदयं महाभागः निजाहैतुककृपया कदाचित् अयं मय कृपा पात्रं स्यात्, अहंमेतस्य नेत्रविषयो भवेयम् इति स्वयमेव यत् करूणाकल्लोलिनीवल्लभो जानकीवल्लभः यमङ्गीकरोति तेन महाभागेन लभ्यः लब्धुं शक्यः । यत्तु केचन-यं स्वात्मानमेष आत्मा वृणुते प्रार्थयते तेन स्वात्मनैव स्वात्मा लभ्यः इति शब्दबलात्कारपूर्वक–द्रविड़प्राणायामविधया व्याचक्षते तत्तु सर्वथैवानुचितमशास्त्रीयत्वात् । यच्छब्दोऽहि कथं स्वात्माभिधेयः एवमेतच्छब्दोऽपि । सर्वनाम्नां पूर्वप्रधानयोः परामर्शकत्वात् एष शब्दोहि

परमात्मानमेवाभिधत्ते। यच्छब्दश्च द्वितीयान्ततया साधकं परामृशति, तेनैव साधकेन लभ्यः । अत्र कर्तरि तृतीया करणेऽपि । स स्वयं लब्ध्वा स्वकृपया अन्यानपि प्रापयति। निष्कर्षश्चायं यत्-सर्वतन्त्र स्वतन्त्रं परमात्मानं नैव किमपि साधनमनुरोद्धुं शक्नोति, स्वयमेव परमात्मा कृपां कृत्वा यं साधकमङ्गीकरोति तेन लभ्यो भवति । अतएव विविधसाधनानि कृत्वा मुनयो न तथा लब्धवन्तो राघवं यथा साधनहीनाः पतिता अपि अहल्यागुहजटायुऋक्षकपयोनिशाचराः विदुरगोपिकापाण्डवप्रभृतयः। यतो हीमान् भगवानेव कारूणिकतया वृतवान्। यत् वृणुते इत्यस्य प्रार्थयति इति व्याचक्षते तत्रु अज्ञातशाब्दिकसिद्धान्तास्ते नालोचनीयाः। भगवान् केन गुणेन जीवान् अङ्गीकरोति ? इत्यत्र परमान्तरङ्गतमा भगवतः श्रुतिरपि मौनमास्ते तत्र के वयं वराकाः वर्णयितुमलम्। अतोगोस्वामितुलसीदासमहाराजाः प्राहुर्विनये–

जेहि गुनतें बसहोहु रीझि करि, सो सब मोहि बिसर्यो ।। (वि. प. ९१)

अतश्चतुरचातकेनेव साधकेन स्वातिजलधाराया इव भगवदकृपाकादम्बिन्याः प्रतीक्षा करणीया । तल्लाभे सति किं स्याद् अत आह–तस्येति, न केवलं कृपां कृत्वा यमङ्गीकरोति तेन लभ्यो भवति। प्रतयुत् तस्य साधकस्य समक्षं एषः अयम् कृपाकूपारः कोशलेन्द्रकुमारः स्वां निजां चिन्मयीं तनूमभिनवजलधीलीलां कोटिकोटिकन्दर्पकमनीयां धनुर्बाणादिदिव्यायुधभूषणरमणीयां श्यामलमूर्तिमपि विवृणुते प्रकटीकरोति । यद्वा कश्चिद्वरः काञ्चिद् वरवर्णिनीं वृणुते, पश्चात् तस्यै सुखं दातुं तस्या सुखं च गृहीतुं परिष्वङ्गादिचिकीर्षया तत्समक्षं स्वयमेव प्रस्तुतो भवति, तथैव भगवानपि। स्पष्टप्रतिप्रत्यर्थं पुष्पवाटिकायां सीतां वृणुते पश्चात् तस्याः समक्षं स्वं प्रकटीकरोति—

।।लता भगवन ते प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाय।।

(मानस बाल, २३२) ।।श्री।।

अथ परमात्मानमिमं स लभते वृणुते किन्तु को न प्राप्नोति ? इति जिज्ञासायां परमात्मप्राप्तिप्रतिबन्धकदोषान् व्याकरोति,

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमहितः ।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।२४।।

यः दुश्चरितात् श्रुतिनिषिद्धकर्मणः अविरतः अनुपरतः न, यश्च अशान्तः नैवशान्तिमापन्नः यश्चासमाहितः एकाग्रचित्तो न, अशान्तं चंचलं मानसं मनः यस्य तथाभूतः चंचलस्वाभावः । वा अपि प्रज्ञानेन केवलज्ञानबलेन एनं न आप्नुयात्। यद्वा प्रज्ञानेनेति पृथग्वाक्यम्, अर्थात् यः दुश्चरितात् न विरतः, यः अशान्तः, यः अनेकाग्रः,

यश्चंचलमनाः स तु प्रज्ञानेन सेवकसेव्यभावबोधरूपेण प्रकृष्टज्ञानेन एनं परमात्मानमाप्नुयात् ।। श्रीः ।।

अधुना सन्तुष्यन्नचिकेता अन्तर्जिज्ञासां कुरूते यद् भवति यमराजे इमे दोषास्तु न विद्यन्ते, तर्हि भवान्परमात्मानं पूर्णतया जानाति न वा ? तदा यमराजः' ब्रह्मणोऽनिर्वचनीयतां वर्णयन् प्राह–

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।।२५।।

वत्स ! प्रलयकाले भगवान् सर्वान् अत्ति । कथं ? यथा कोऽपि भोक्ता भोजनकाले ओदनमुपसेचनेन सूपशाकादिना खादति तथैव ब्रह्म । ब्राह्मणः धर्मोपदेशकतया प्राणिनामुपलक्षणः, क्षत्रं धर्मरक्षकः चकारद्वयेन वैश्यशूद्रयोरन्येषां च जीवानां ग्रहणम् उभे द्वे ओदनः पक्वतण्डुले भवतः । मृत्युः अहं यमराजोऽपि यस्य परमात्मनः उपसेचनं द्विदलशाकव्यञ्जनादिकं भवति । तादृक् सकलचराचरग्रसनशीलः यत्र साकेतलोके चतुश्पादविभूतिरूपेण विराजते सः तादृशं साकेतलोकम्, इत्था अनेनप्रकारेण चिन्तयामः इति कः वेद कः जानाति न कोऽपि इति भावः यद्वा कः ब्रह्मा वेद स एव परमभागवतः कदाचित् जानाति ।। श्रीः ।।

।। इति द्वितीयवल्ली ।।
।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

।। अथ तृतीय वल्ली ।।

द्वितीयवल्यां चतुर्दशे मन्त्रे अन्यत्रधर्मादित्यादौ नचिकेतसा पूर्वपृष्टमात्मविषयक–प्रश्नं परित्यज्य षड्वैशिष्ट्यविलक्षणपरमात्मतत्वे पृष्ठे यमराजेन त्रिभिर्मन्त्रैः परमेश्वरस्य याथातथ्यं ब्रावर्णि । पुनरात्मतत्वं प्रथमवल्यां पृष्टं तृतीयवरदानरूपेण समुपादिशत्, पश्चात् षड्भिर्मन्त्रैः सकलप्रत्यगात्मनां सेव्यत्वेन प्रतिष्ठितस्य परमात्मनः महिमानुवर्णितः । तत्र **आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्** इति मन्त्रेण अस्य जन्तोः प्रत्यगात्मनः हृदयं गुहायाम् आत्मानिहितः इत्यप्युक्तम्, आत्मपदस्य च परमात्मशब्दतात्पर्यग्राहकत्वमपि निरगादीच्छुतिः । तत्र जिज्ञासेयमुदेति यदेकस्यां गुहायां जीवात्मना सह परमात्मा कथं तिष्ठति, एवम् अज्ञानमोहितत्वात् जन्तुसंज्ञाभाक् प्रत्यगात्मायं कथं संसारकान्तारं तरति ? इत्यतस्तृतीयवल्ली प्रारम्भः । तत्र प्रथमे जीवात्मपरमात्मसम्बन्धमीमांसा,

द्वितीयस्मिन् प्रार्थना, तृतीयस्मादेकादशं यावत् रथरूपककल्पना, चरमे प्रतिबोधनमिति विषयानुक्रमः । अथ द्वयोरात्मपदवाच्ययोर्गुहाप्रविष्टयोः सम्बन्धं विवृणोति ऋत मित्यादिना—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।१।।

ये पञ्चाग्नयः पञ्चसंख्याकाः गार्हपत्यदाक्षिणाग्न्याहवनीयशव्यावसद्भ्याः येषां तथाभूताः निष्कामकर्मयोगिनो गृहस्थाः, नचिकेतसः अयं नाचिकेतः, त्रिः समनुष्ठितः नाचिकेतः अग्निः यैस्ते इति त्रिणाचिकेताः उपासकाः इति भावः । ब्रह्म परमात्मानं विदन्ति विन्दते विन्दन्ति इति ब्रह्मविदः ब्रह्मज्ञाः ब्रह्मविचारकाः ब्रह्मविदः ब्रह्मज्ञाः ब्रह्मविचारकाः ब्रह्मप्राप्तिकर्तारश्च एवं विधं वदन्ति यत्-इमौ जीवात्मपरमात्मानौ गुहां बुद्धिं प्रविष्टौ । परमे पराधे ब्रह्मणो निवासभूते हृद्देशे सुकृतस्य सत्मकर्मणः लोके अस्मिन् मनुष्यलोके ऋतं सत्यं पिबन्तौ धयमानौ, अत्रायं विवेकः यत्-जीवस्तु कर्मणः फलभूतं सत्यमास्वादयति किन्तु परमात्मा न पिबति पाययति केवलं तर्हि पिबन्ताविति द्विवचननिर्देशः कथम् ? इति चेत् अपिबन्तमप्यात्मानं प्रत्यगात्मानं पिबन्तमकलोक्य तत् पानसंतुष्टः आत्मानमपि पिबन्तमिव मन्यते अतो द्विवचनम् । तथाभूतौ इमौ छायातपौ जीवात्मा छाया अल्पप्रकशकत्वात् नित्यं पुरूषानुगामित्वाच्च । परमात्मा आतपः सूर्यः परमप्रकाशकः निरस्तमोहसन्देहः । इत्थं द्वयोः सम्बन्धः । यद्व यो गुहां हृदयं प्रविष्टौ सुकृतस्य भजनरूपस्य **चतुर्विधाभजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन** गीता (७,१६) इतिस्मरणात् तस्य लोके साकेतनामके परमे अद्वितीये परार्धे श्रेष्ठतमे, एवं महिमनि साकेते त्रयोऽपि गृहस्थकर्मि समुपासकशरणागतिहेतुकाज्ञानमार्गिणः छायातपाविव अनुगम्यानुगम्यभावात् ऋतं जीवात्मा भगवदानन्दरूपं परमात्मा भक्तानन्दरूपं पिबन्तौ आस्वादयन्तौ आशाते ।। श्रीः ।।

इदानीं निकटंविवर्तमानं परमात्मानं विस्मृत्य जीवात्मा स्वाच्छन्द्यमनुभवन् संसारसागरे निमग्नो भग्नमनोरथो यदनिर्वाच्यपीडामनुभवति, तं तथाविधं तापत्रयेण पेपीड्यभानं रोरूयमाणं जीवात्मानं निहार्य करूणाक्लिन्नहृदया माता श्रुतिः मन्त्रेऽस्मिन् परमात्मप्रार्थनाय जन्तुमिमं समीरयति, यतो हि द्वितीयवल्यां त्रयोविंशे मन्त्रे नायमात्मेत्यादौ प्रवचनमेघाश्रुतानां भगवत्प्राप्तौ प्रमुखसाधनत्वेन गण्यमानानां तत् प्राप्ति साधनत्वं निराकरोत् । यमेवैष इत्युत्तरार्धेन निजकृपापरिणामाकारं भगवदङ्गीकारमेव तत्प्राप्ति मुख्यसाधनमेव प्रावोचत् । तर्हि स भगवादङ्गीकारः कथन्कारं भवेत्, कथं वा परमेश्वर-

कृपासुधा जीवात्मविषयकक्षुधां मुधाकुर्यात् इत्यपेक्षायामुत्तरमिदम् । दैन्यपूर्विका सा भगवत्कृपा कादंबिनी तच्च अभिमान्यशून्यप्रार्थनाधीनं तस्मात् प्रार्थनाप्रकारं प्राह स्य: इत्यादिना ।। श्रीः ।।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परं ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत ँ शकेमहि ।।२।।

अत्र प्रार्थनायां वाक्यद्वयं विषयद्वयंञ्च । प्रथिमोहि प्रार्थिविषय: नाचिकेतोऽग्निः द्वितीयश्च परमात्मा । अन्वयोऽपि वाकृयभेदेन विवेकतोऽषवगन्तव्य: । स चेत्थं—य: ईजानानां सेतु: तं नाचिकेतं शकेमहि, यच्च अक्षरम् अभयं तितीर्षतां पारं तत् परं ब्रह्म शकेमहि । अथ किमर्थमिदं वाक्यद्वयं ? श्रूयताम् लोके हि द्विधाधिकारिण: कोमला: प्रौढाश्च, उभयेषामपि भगवानेव शरणं, तथापि मार्गयोर्वैलक्षण्यं कोमलाना मविपक्वकषायाणां कर्मयोग: परिपक्वमनसां ज्ञानयोग: । तथोक्तं श्रीगीतायां **लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ, ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्** (गीता ३/३)

एवं कर्मयोगपथपथिकानां नाचिकेताग्निचयनपूर्वकपरमेश्वरप्राप्तिविधानं प्रथमवाक्येन, द्वितीयेन च दैन्यमूलकप्रार्थनमाकृपायाच्आद्वारेण परमेश्वरप्राप्तिविधि: । तत्रपूर्व नाचिकेताग्निप्रार्थना, यद्यपीयमपि परम्परया परमेश्वरप्रार्थनैव तथाहि-ईजानानां यज्ञाकुर्वतां यजमानानाम् अत्र **बहुलंछन्दसि** इत्यनेन सानचोमुमागमाभाव: कित्वाभावेऽपि संप्रसारणम् दीर्घश्च । सेतु: संसारसागरतरणाय सेतुरूप: तादृशं नचिकेतस: संम्बन्धि भूतं नाचिकेतमग्निम् शकेमहि प्राप्तुं शक्येमहि । अत्र प्रार्थनायां लिङ् गणकार्याणामनित्यत्वाच्छ्यनभाव: । एवमेव यत् विशिष्टाद्वैतम् अक्षरं नक्षरतीयत्यक्षरम् अविनश्वरं तितीर्षतां संसारसागरं तर्त्तुमिच्छतां भक्तानां पारं सिन्धुपुलिनमिव अभयं भय प्रतियोगिकात्यन्ताभाववत् परममशेषकार्यकारणातीतं तादृशं ब्रह्म सवर्था ब्रह्मणशीलं शकेमहि साक्षात्कर्त्तुम् क्षमेमहि वयमिति शेष: । यद्वा नात्रवाक्यद्वयं तथा च इजाना- नाम् यज्ञनिरतानां य: सेतु: मर्यादासेतुरिव कर्मिणां कृते, यच्च तितीर्षतां संसारसिन्धु- पारगन्तुमिच्छतामुपासकानां पारम् तीरमिव, यच्च ज्ञानिनाम् अद्वितीयत्वात् अभयं **भयम् द्वितीया भिनिवेषतो भवेत्** इति स्मृते: । यच्च त्रिपथमतीतानाम् भवभीति भीतानामस्मादृशामदृशाम् अक्षरम् अक्षाणि इन्द्रियाणि राति ददाति इत्यक्षरम् निजानन्दानुभवाय दिव्येन्द्रियप्रदम् । अथवा अक्षिणी नेत्रे राति ददातीत्यक्षरं प्रसोदरादित्वात् इकारलोपोऽप्रत्ययश्च । भगवानेव

तन्मुखारविन्दमाधुरीनेत्रचषकेण पिपासतामनेत्राणाम् दिव्यचक्षुर्ददाति **दिव्यं ददामिते चक्षुः** (गीता ११-८) इति गीतोक्तेः । एवं भूतन्नाचिकेतम्, **सर्वे सान्ताः खल्वजन्ताः**, तस्मात् नचिकेतस्यइदं नाचिकेतं तादृशम् परं ब्रह्म शकेमहि द्रष्टुं ज्ञातुं प्रवेष्टुं वा क्षमेमहि ।। श्रीः ।। जीवाः हि द्विधा बुभुक्षवः मुमुक्षवश्च बुभुक्षवः संसारं प्राप्नुवन्ति मुमुक्षवश्च संसारकर्तारं कमलकुसुमसुकुमारं कौशल्याकुमारं लभन्ते, किन्तु यथा दविष्टं लब्धुं जनो प्रयाति केनचित्स्यन्देनन् तत्र रथरथिसारथिप्रग्रहहयमार्गाणां समीक्षणं तथैवात्रापि तस्मान्मन्त्रनवकेन रथरूपकं प्रस्तौति आत्मानमित्यादिनामन्त्रद्वयेन रथं तदुपकरणानि च निर्दिशाति–

आत्मान ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।३।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।४।।

श्लोकद्वयमेकान्वयि—

पारेमार्गगन्तुं रथस्यापेक्षायाम् रथिनमन्तरेण तस्याकिञ्चित्करत्वेन पूर्वम् रथिनिरूपणम् आत्मानं जीवात्मरूपं स्वमेव साधकम् संसारयात्रायाम् रथिनं, रथः अस्ति अस्य इति रथी तथाभूतं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि, तु तथा शरीरं शीर्यमाणं पाञ्चभौतिकदेहं रथं स्यन्दरूपम् एव निश्चयेन विद्धि । च तथा बुद्धिं व्यवसायात्मकमन्तःकरणं सारथिं यन्तारं विद्धि, आत्मरूपरथिनिर्देशेन सैवशरीररूपरथं चालयति इति भावः । एवम् मनःसंकल्पात्मकं प्रग्रहं प्रगृह्यन्ते अश्वाःयेन तत् रथरश्मिमितिभावः । एवम् इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयान् अश्वान् आहुः कथयन्ति प्राञ्चः । इम एव शरीररूप रथम् वहन्ति । तेषु तादृशेषु रथोपकरणेषु विषयान् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् गोचरान् गावः चरन्ति येषु तथा भूतान् मार्गान् आहुः । एवमात्मा शरीरमिन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, मनःसंकल्पकं तैर्युक्तम् इमं जीवात्मानं भोक्ता जगद्भोगनिरत इत्याहुः कथयन्ति, के ? मनीषिणः मनसोऽपि ईषितारः ।।श्रीः।।

इत्थं मन्त्रद्वयेन रथरूपकम् निरूप्य इन्द्रियाणां चाञ्चल्यकारणं निरूपयति । यद्यपि सर्वेऽपि प्रत्यगात्मानः परमात्मानं लब्धुं यतन्ते, भगवता सर्वेभ्यश्च समानरूपेण शरीररूपोरथिः बुद्धिरूपः सारथिः मनोरूपं प्रग्रहम् इन्द्रियरूपाः अश्वाः इति विषयरूपमार्गमतिक्रान्तुं सर्वाण्यपि गमनोपकारणानि दत्तानि, परन्तु दुर्भाग्यवशात्

विरला एव तरन्ति मरन्ति च बहवः सरलाः । तत्र किं कारणम् इति मीमांसायां रथोपकरणेषु प्रत्येकं विभाव्यं रथोऽपि मानवशरीररूपः भूयांसः दोषाः आयान्ति बुद्धिसारथौ, अतएव श्रुतिमाता गायत्री **धियो यो नः प्रचोदयात्** इति व्याहरति, अन्यथा तत्कुपरिणामं संकेतयति यस्त्वित्यादिना-

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येद्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।५।।

तु शब्दः अपेक्षापरः, लब्धेषु उपकरणेषु लक्ष्याप्राप्तौ कारणमन्वेष्टव्यम् । यः रथिविशेषः, अविज्ञानवान् अत्र विज्ञानपदम् बुद्धिपर्यायवाची तथा हि अपवित्रम् विज्ञानमस्त्यस्य इत्यविज्ञानवान् अत्र निन्दायाम्मतुप् एवम् अपवित्रनिन्दितबुद्धियुक्तः भवति, तथा अयुक्तम् असमाहितम् प्रग्रहपक्षे असम्बद्धं सारथिना हयैश्च तादृशेन मनसा सह सदा भवति निरन्तरं यात्रां कुरूते, तस्य जनस्य इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि अवश्यानि नवशीभूतानि भवन्ति । कीदृशानि इति स्पष्टयितुमुपमामाह सारथेः यन्तुः दुष्टाश्वाः दुष्टाः अनियन्त्रिताः अश्वाः अश्नन्ति सैन्धवशिलाः ये तथा भूताः इव यथा । आशयोऽयम् येन प्रकारेण लक्ष्यविहीनस्य सारथेः पीतमदस्य शिथिले प्रग्रहे अश्वाः तमनपेक्ष्यैव पथि विपथे वा यत्र यत्र हरित तृणानि पश्यन्ति तत्र तत्रैव रथं नयन्तो गत्वा चरन्ति, पुनर्लक्ष्यं विहाय विर्मागमेवानुसन्ति, तथैव यदि बुद्धिरशुद्धा तथा च मनोनियन्त्रणं त्यक्तं पुनरिन्द्रियाणि त्यक्तमर्यादानि विषयभोगान् स्वच्छन्दं भुन्जानानि तत्रैव रमन्ते न तु लोकाभिरामे श्री रामे । ।। श्रीः ।।

अथैतत् प्रतीपपरिणाममाह यस्त्विति—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।६।।

तु किन्तु यः कश्चन साधकः विज्ञानवान् अत्र प्रशंसायां मतुप् प्रशस्तबुद्धिमान् भवति एवं युक्तेन समाहितेन स्ववशीकृतेन निश्चलेन मनसा भवति, तस्य प्रशस्तबुद्धेर्वशीकृत मनसः इन्द्रियाणि वश्यानि वशंवदानि भवन्ति इतिशेषः । कथमित्युपमाति-सारथेः सदश्वा इव यथा चतुरसारथेः दृढं प्रगृहीतप्रग्रहस्य अश्वा नोच्छृंखलाः प्रतिपदं साधनाकशा-ताडनेन निरस्तचापलत्वात् तथैव यदि भगवद्भजननिरता बुद्धिः तथा च मानसमपि तत्रैव नीतं तस्य नियन्त्रितानीन्द्रियाणि नैव लक्षं जहति । क इव सदश्वा इव सन्तः अश्वाः सदश्वाः यद्वा सतः साधोः विज्ञानस्य वशीकृता अश्वा सदश्वाः । ।। श्रीः ।।

ननु पीतमदत्वात् प्रमादिनः विज्ञानसारथेः शिथिलं मनःप्रग्रहं भवतु नाम भवन्तुनाम नियन्त्रणहीना इन्द्रियाश्वाः, कदाचित्तु गन्तव्यं लप्स्यत एव इत्यत् आह यस्त्विति—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सँ्सारं चाधिगच्छति ।।७।।

यस्तु दुर्भाग्यशाली रथिविशेषः, अविज्ञानवान् अशुद्धनिन्दितबुद्धिः अमनस्कः नवशीकृतं मनः येन सोऽमनस्कः अवशीकृतस्वान्तः, अतएव सदा निरन्तरम् अशुचिः कृतविकर्मतया पापमलिनः भवति पथिको भवति, स एवम्भूतः तत् पदम् गन्तव्यलक्ष्यं परमात्मपदं न आप्नोति नैव लभते। च चकारः विपरीतपरिणामसूचकः तत् पदाद्विपरीतं संसारं संसरति प्रवाहावच्छेदेन गतागतं करोति इति संसारः । यद्वा शनैः शनैः सरति विपरिणमति विनाशाभिमुखम् गच्छति इति संसारः । प्रसोदरादित्वात् तालव्यस्थाने दन्त्यसकारः टिलोपश्च, यद्वा समंसरतीति संसारः राजानो रंकाःवा सर्वेपि प्राणभृतः समानरूपेण कालमुखं गच्छन्ति यस्मिंस्तथाभूतः, तादृशं संसारम् अधिगच्छति पापकर्मभिः गृहीताधिकारं याति, पापिनां हि संसाराधिकारात् । अथ को नाम संसारमतिलंघ्य एतस्य विषममार्गस्य पारंगतस्तत्पदं प्राप्नोति इत्यत आह—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।८।।

यस्तु साधकः विज्ञानवान् विजानाति परमात्मानं येन तद् विज्ञानं विपूर्वकज्ञाधातोः करणे ल्युट्, एवं प्रशस्तं भगवच्छरणागतिरसरसिकं विज्ञानं बुद्धिरस्त्यस्य स विज्ञानवान्, मनसा वशीकृतेन सहभूतः समनस्कः स्ववशस्वान्त इति भावः । सदा सततमेव शुचिः भगवद्भक्तिभागीरथीनिमज्जननिरस्तकल्मषः स एव तु निश्चयेन तत्पदं तस्य परमात्मनः स्थानं साकेताख्यं, यद्वा तस्य परमेश्वरस्य पदं सकलप्रपत्तिस्थानं श्रीमच्चरणसरसीरुह- माप्नोति लभते। किं स्वर्गलोक इव क्षयिष्णुः सः ? नेत्याह तत्र पुण्यं क्षीयते पुनस्तस्मिन् क्षीणे मर्त्यलोकं विशन्ति, किन्तु भगवच्चरणारविन्दे तु सततं सन्निहितमुनिमानसमधुकरत्वात् तत्र प्रतिपदं पुण्यं वर्धते अतो नैव पतनशंका । यस्मात्प्रभु पदपद्मात् पतित्वा इति शेषः भूयः पुनः न अभिजायते नैवसंसारे जन्मगृहणाति प्रत्युत् भगवता सह मोदते । **सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता** इतिश्रुतेः ।।श्रीः।।

अथ निष्कृष्टमर्थमाह विज्ञानेति—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परं पदम् ।।९।।

यस्तु नरः न रमते संसारभोगेषु सः नरः विज्ञानसारथिः विशुद्धः बुद्धिसारथिसंम्पन्नः, मनःप्रग्रहवान् मनः एव प्रग्रहं रश्मिः इति मनःप्रग्रहं तत् प्रसस्तमस्त्यस्य इति मनः प्रग्रहवान् वशीकृतस्वान्तरश्मियुक्त इति भावः । सः एवंभूतः साधकः अध्वनः संसारकान्तारमार्गस्य पारम् अन्तं तथा विष्णोः विवेष्टि इति विष्णुः तस्त्र यद्वा विशेषेण श्नौति किमपिसाधनमन्तरेण भक्तेषु द्रवतीति विष्णुः, तस्य विष्णोः श्री रामानिधानस्य ब्रह्मणः यद्वा विष्याविष्णुना नूयते प्रणम्यते इति विष्णुः तस्य विष्णुनापि प्रणम्यमानस्य श्री रामचन्द्रस्य तत् सकललोकविलक्षणस्य परमं श्रेष्ठं, यद्वा पराधिष्ठातृत्वेन श्रेष्ठा, यद्वा आचार्यत्वेन जगज्जननीत्वेन शीघ्रं करूणापरत्वेन च रामादपि श्रोयसी मा श्रीरामचन्द्रस्य आह्लादिनीशक्ति सीता यस्मिन् तत्परमं पदं स्थानमाप्नोति लभते । अर्थात् इन्द्रियाणि बुद्धिमानसी अन्तरेण नैव विषयग्रहणे क्षमन्ते अतो यस्य बुद्धिमनसी नियन्त्रिते भगवद्भजनेन विमलीभूते तस्य इन्द्रियाणि स्वत एव जितानि, जितेषु तेषु नियोजितेषु च भगवत्कर्मणि जीवात्मा शरीरस्यनन्दसंसारयात्रां समाप्य परमेश्वरपद्मपदं प्रपद्यते ॥श्रीः॥

अथ साधकेभ्यः समाश्वासनदित्यसा इन्द्रियविषयमनोबुद्धिप्रत्यगात्माव्यक्त परमपुरूषाणां सप्तानामपि मध्ये पूर्वपूर्वस्मात् उत्तरोत्तरस्य बलवत्तरत्वं दर्शयति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो महान् ।।१०।।
महतः परमत्यक्तमत्यक्तात्पुरूषः परः ।
पुरूषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ।।११।।

ननु कथं बुद्धिमनसोरेव नियन्त्रणेन संभवमिन्द्रियनियन्त्रणमिति जिज्ञासां शमयति- हि यतोहि अर्थः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनग्रहणगमनोत्सर्गानन्दाः इन्द्रियेभ्यः चक्षुश्श्रोत्ररसनाघ्राणत्वक्पाणिपादपायूपस्थेभ्यः पराः बलवत्तराः यतो हि तैरेवैतानि बलान्निगृह्यन्ते, अर्थेभ्यः शब्दादिभ्यः मनः स्वान्तं परं बलवत्तरं सूक्ष्मतरश्च गतिशीलत्वात् अणुत्वाच्च, तु तथाच मनसः स्वान्तात् बुद्धिः व्यवसायात्मकमन्तःकरणं परा अधिकबलवती विज्ञानमयत्वात् सारथित्वात् च, रथिनः बुद्धेः तदपेक्षयापि महान् पूजनीयः आत्मा जीवात्मायं परः बलवत्तरः श्रेष्ठश्च आत्मशब्दो हि नानार्थकः तत्र अहंकारादावतिव्याप्तिवारणाय महानितिविशेषणं, महान् शब्दोऽत्र नैवसांख्यदर्शनीयमहत्त्तत्वबोधकः तत्र महतत्त्वं हि बुद्धिपर्यायमत्र च महतः बुद्धेः

परत्वमुक्तम्, एवं महत: इन्द्रियादिभि: पूज्यमानात् अव्यक्तं व्यंजितुमनर्हं योगमायाभिधानं भगवत: शक्तिविशेष: परम् बलवत्तरम् । महान्तमपि जीवात्मानं क्षणेनेव मोहपाशेन बध्नाति यथोक्तं मार्कण्डेय पुराणे—**ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हिसा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति** (दुर्गा० स० १/५५) एवमेवश्रीगीतायां **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया** (गीता ७/१४)

तथैव श्रीमानसे—

जो ग्यानिन्हकर चित अपहरई, बरियाई विमोह मन करई । (मानस ७/६९/६)

अत्र अन्यक्तमपि नैव सांख्यानां प्रकृति:तस्या: जड़त्वान्धत्वपरतन्त्रत्वप्रभृत्यपकृष्ट-धर्मवत्वधानात् । प्रकृतिजीवात्मनोश्च संयोगत: सृष्टिकरणेन लोके तयोर्दाम्पत्याभिलापात् अव्यक्तं खलु भगवतो योगमाया अघटितघटनापटीपसी भगवदभिन्ना: ।

अव्यक्तात् भगवन्मायात:, पुरूष:पुरि शरीरे उ निश्चयेन शेते इति पुरूष: परमपुरूषार्थ साध्य: परमात्मा पर: बलवत्तर: सूक्ष्मतरश्च । जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये अव्यक्तम् । अनेन व्यवहित दृष्टि जीर्वात्मा न परमात्मानं पश्यति यथा श्रीगीताषु **नाहं प्रकाश: सर्वस्य योगमाया समावृत:** (गीता. ७/२५)

मानसेऽपि-**मायाछन्न न देखिये जैसेनिर्गुन ब्रह्म** । (मानस-३,३९ क) इदमपि पुरूष इवानेकरूपं भगवद्विमुखानां कृते ब्रह्मावरकपटकं भगवत्सम्मुखानां कृते ब्रह्मदर्शनघटकं यथा मानसे श्री गोस्वामिचरणा: स्मरन्ति–उ**भयबीचश्री सोहति कैसे, ब्रह्म जीव विचमाया** जैसे (मानस-३,७,३) इत्थं जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये न केवलं भेद: प्रत्युत् व्यवधानसहकृत भेदं कण्ठरवेण निर्दिष्टवती श्रुति: । अत्रापि यदि कोऽपि दुराग्रहग्रहिल: द्वयोरैक्यं सिपाधयिषति तर्हि नूनं स त्रिदोषग्रस्त: । एवं योगमायात: परिभूतात् पुरूषादपि किञ्चित् परं नवेति ? नेत्याह पुरूष परमात्मन: किश्चित् किमपि वस्तुजातं न परं नवा सूक्ष्मतरं नवा बलवत्तरं सा काष्ठा, पुरूषपरतैव काष्ठा चरमसीमा सा परिणति: परमपुरूषपरमात्म इव सकलगन्तव्यस्थानम् । वस्तुतस्तु मन्त्रद्वयेऽपि सप्तस्थानेषु प्रयुक्ता ल्यबलोपपंचमी, न तु तरबनुरोधिनी अन्यथा तत्र तरप् प्रत्यय: श्रूयेत, पर शब्दश्च आधिक्यश्रैष्ठ्यसूक्ष्मत्वपर: ।। श्री: ।।

अथ यदि परमात्मा सर्वेषां पराकाष्ठा सर्वेषां परागतिश्च श्रुत्यैव निर्धारित:, तर्हि कथं नास्मदादिभि: अनुभूयते ? इत्यत् आह—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिमिः ।।१२।।

एषः परमात्मा सर्वेषु भूतेषुप्राणिषु गूढः योगमायाजवनिकया संम्भृतः आत्मा सर्वव्यापकोऽपि न प्रकाशते सामान्यजनानां इति शेषः । अत्र **बहुलम् छन्दसि** इत्यनेन गूढः आत्मा अस्यां स्थितावपि उत्वाप्रवृत्तौ रोरूत्वेगुणे पूर्वरूपः । केन दृश्यते ? इत्यत आह—

सूक्ष्मदर्शिभिः पूर्वोक्तमन्त्रद्वयानुसारं सूक्ष्मं पश्यन्ति तच्छीलाः इति सूक्ष्मदर्शिनः, तथाभूतैः कर्तृभिः अग्र्यया बुद्ध्या भगवत्साधने अग्रसरया करणभूतया बुद्ध्या मनीषया दृश्यते साक्षात्क्रियते निश्चयेन । अथ भगवद्दर्शने साधनप्रकार माह—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।१३।।

प्राज्ञः प्रसस्ता प्रज्ञा अस्ति अस्य तथाभूतः **प्रज्ञादिभ्योअण्** इत्यण् प्रत्ययः वाक् उपलक्षणतया वागुपलक्षितहृषीकाणि मनसि यच्छेत् नियमयेत्, तत् मनः आत्मनि आत्मनामकज्ञाने ज्ञानकरणे बुद्धौ यच्छेत्, तज्ज्ञानं महति आत्मनि प्रत्यगात्मनि यच्छेत्, तमपि शान्ते निर्देषे आत्मनि भगवति परमात्मनि नियच्छेत् निश्चित्य विलापयेत् पूर्व पूर्वस्य उत्तरोत्तरत्र संयमः ।। श्रीः ।।

।। इति प्रथमाध्याये तृतीयवल्ली ।।

।। श्री राघवः शन्तनोतु ।।

●

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमा वल्ली

पूर्वस्मिन् अध्याये नाचिकेतोपाख्याने यमः नचिकेतसस्तृतीयवरदानरूपेण वल्ली-द्वयावधि ब्रह्मनिरूपयामास । तत्र आत्मपरमात्मनोर्भेदं स्पष्टं समुदीरयत् । एवम् आत्मपरमात्ममीमांसां विज्ञाय नचिकेता संतुष्टः । अतएव प्रथमाध्यायस्य तृतीय-वल्लीचरममन्त्रद्वयेन नाचिकेतमुपाख्यापनमित्यादिना फलश्रुतिं कथयित्वा यद्यपि नाचिकेतोपाख्यानं विश्रमयामास तथापि नोपनिषद् विश्राममगच्छत् । द्वितीयाध्याय-व्याख्यानं खलु किञ्चिदुपाख्याननिरपेक्षम् ईशावास्यमाण्डूक्यादिवत् । सम्वद्धश्च प्रथमाध्यायेन सहेत्थम् निजोपदेशचरममन्त्रे यदवोचद्यमः **निचाय्यतन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।** तत्र जिज्ञासा समुदेति-कथं मन्त्रेऽस्मिन् विलोक्य तदिति नावोचत् ? तदुत्तरम्-यतोहि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धरहितं तत् । ननु भो एतन्मन्त्रव्याख्याने मध्यमपदलोपिसमासमहिम्ना भवतैव ब्रह्मणि अव्यक्तशब्दादीनां व्यवस्था कृता, तर्हि तत् कथं न त्यज्यते, अविज्ञायरहस्यमेतत् तदनुभवोऽपि नैव सुशक इत्यतो ब्रह्मदर्शने हृषीकाणामसामर्थ्यं स्पष्टयितुं द्वितीयाध्यायप्रारम्भः ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।१।।

स्वयम्भूः स्वयं भवति तथाभूतः सकलकारणतया परमस्वतन्त्रः परमात्मा खानि समनस्कानि चक्षुरादीन्द्रियाणि, पराञ्चि पराग् अञ्चन्ति तथा भूतानि ब्राह्यविषयास्वाद लम्पटानि इत्रि भावः । व्यतृणत् व्यरचयत् । इन्द्रियाणां स्वभावो हि बहिर्मुखः अतो बहिर्विषयान् भुञ्जते । यत्तु व्यतृणत् इत्यस्य हननं कृतवान् इति व्याख्यातं तदस्वाभाविकं प्रसङ्गविरुद्धञ्च । ननु कथं हिंसार्थकत्रिहुधातोः रथनार्थः ? **अनेकार्था हि धातवः** इत्यनुशानात् व्युपसर्गवलेन रचनार्थत्वेनादोषः परिहरतीत्यादिवत् । तस्मात् इन्द्रियाणां पराक्मुखत्वात् द्रष्टायं पराक्पश्यति निम्नभोगान् अनुभवति अन्तः निजमनोमन्दिरे आत्मन् आत्मानं न । अत्र "सुपां सुलुक्" इत्यनेन ७/३/३९ आत्मन् उत्तरवर्तिद्वितीयैकवचनलोपः । एवमिन्द्रियाणां पराक्त्वमेव भगवत्साक्षात्कारे प्रतिबन्धकम् । यद्वा स्वयंम्भूः परमेश्वरः खानि पराञ्चि निजचरणपराङ्मुखानि ज्ञात्वा व्यतृणत् हिंसितवान्

अतएव द्रष्टा स्वान्तरात्मानं न पश्यति । कश्चिद् कोऽपि धीरः धियं बुद्धिम् ईरयति प्रेरयति इति धीरः । अमृतत्वं नास्ति मृतत्वं मरणधर्मः यस्मिन् तद्ब्रह्म इच्छन् साक्षात्कर्तुममिलषन्, आवृत्तचक्षुः चक्षुः शब्दः इन्द्रियाणामुपलक्षणम्, एवं आवृत्तानि परागविषयेभ्यो निवृत्तानि चक्षुः चक्षुरुपलक्षितेन्द्रियाणि येन स एव धीरः । प्रत्यगात्मानं प्रतीत्य अञ्चति गच्छति पूजयति वा परमेश्वरं यः स प्रत्यङ्, स चासावात्माचेति प्रत्यगात्मा तं प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् विलोकयतीतिभावः । "व्यत्ययो बहुलम्" इत्यनेन लडर्थे लङ् । तात्पर्यमिदं यदिन्द्रियाणां बहिर्मुखस्वभावात् तदाधीनोऽयं जीवात्मा बहिर्विषयानेवानुभवति ।

कथमिदमसमञ्जसं, यतो हि स्वयंभुरेव निजविमुखानि तानि व्यतृणत् हिंसितवान् । तेषां हिसनं भगवत्पदपद्मतः प्रथग्भवनम् । यदि कोऽपि धीरः इन्द्रियाणि विषयेभ्यः परावर्त्य भगवति नियोजयति तदा सः निजस्वरूपमनुभवन् प्रत्यञ्चन्तमात्मानं पश्यति, अविवेकिनो हि शरीरं पूजयन्ति किन्तु विवेकिनस्तु शरीरमनोबुद्धिभ्यः पृथक्कृत्य निजात्मानं परमात्मपदपद्ममधुकरं कुर्वते इति सिद्धान्तः । ।।श्रीः।।

अधुना कामान् सेवमानानां ब्रह्म रामं च भजतां परस्परवैलक्षण्यं च व्याचष्टे—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृततत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।।२।।

बालाः बलं प्राणनं प्रयोजनं येषां ते बालाः केवलं स्वासधारणप्रयोजनाः न तु भगवत्साक्षात्कारहेतवः, पराचः निम्नगामिनः कामान् काम्यमानान् भोगान् अनुयन्ति आनुगत्येन सेवन्ते, ते कामलोलुपाः विनतस्य विचारे नतस्य समनिवार्यस्य मृत्योः यमस्य पाशं बन्धनं यन्ति व्रजन्ति भगवच्छरणागतिं विना तेषां मरणं दुर्निवारम् ।

अथ शब्दोऽयं वैलक्षण्यवाचकः, एभ्यो विपरीताः धीराः भगवद्भक्ताः अमृतत्वम् अमृतमयं मरणधर्मभिन्नं परमात्मानं विदित्वा सेव्यत्वेन विज्ञाय यद्वा विन्दन्ति लभन्ते परब्रह्म यया सा वित्, करणे क्विप् तया विदा भक्त्या इत्वा प्राप्य **भक्त्यामामभिजानाति** इतिस्मरणात् **सह सुप इति** समासः बाहुलकात् समासनिमित्तकल्यब्भावः । इत्थं ब्रह्मानन्दरससुधासागरलीनमनसः अध्रवेषु संसारभोगेषु क्षणभंगुरेषु भोगेषु मध्ये ध्रुवं परमात्मानं न याचन्ते । यद्वा अध्रुवेषु आसक्तः ध्रुवं याचते, यद्वा अध्रुवेषु इत्यत्र "निमित्तात् कर्मयोगे" इत्यनेन निमित्ते सप्तमी, अर्थात् अध्रुवाणि क्षणभंगुरपदार्थान् निमित्तानि मत्वा तत् पूर्तये ध्रुवं न प्रार्थयते । इह लोके क्षणभंगुरपदार्थन् विहाय केवलं भगवदनन्यतां गत्वा ध्रुवं परमेश्वरचरणतामरसं श्रीराघवं प्रार्थयन्ते । ।।श्रीः।।

अधुना भगवतः ज्ञानकरणत्वं सूचयति—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनेव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ।।३।।

यच्छब्दस्तृतीयान्तो हेतौ येन हेतुना रूपमवयवसंस्थानं, रसं मधुरादिकं, गन्धं पार्थिवगुणं, शब्दं नभोगुणं, स्पर्शान् त्वगिन्द्रियग्राह्यान्, मैथुनान् गृहमेधीयसुखविशेषान् एतेनैव अनेन विज्ञानघनेन ब्रह्मणा करणेन विजानाति विशेषेण अनुभवति । इमं विज्ञानघनमन्तरेण अत्र जगति किं परिशिष्यते पारिशेष्येण किं वर्तते? इति काक्वा प्रश्नमुत्थाप्य स्वयमुत्तरयति-एतद्वैतत्–

एतत् येन प्रत्यगात्मा सम्पूर्णविषयान् अनुभवति अर्थात् समग्रा चेतना परमात्मनि तिष्ठति ततो लभते जीवात्मा, ततो लभन्ते करणाधिष्ठानानि सुराः, ततो लभन्ते इन्द्रियाणि चतुरन्तःकरणानि च; ततो लभन्ते विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवचनोपादान गमनोत्सर्गानन्दसंकल्पव्यवसायाभिमानचिदाख्याः । सर्वेषां परमप्रकाशकस्तु श्रीरामाभिधानं ब्रह्मैव । तथा चाहुः श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यप्रशिष्यपदमलङ्कुर्वाणाः श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासमहाराजाः श्रीमन्मानसे—

विषयकरन सुर जीवसमेता, सकल एक ते एक सचेता ।
सब कर परमप्रकाशक जोईं, राम अनादि अवधपति सोई ।।

मानस बा० ११७/५/६

वै निश्चयेन तत् तत् पदाभिधानं ब्रह्म ।

इदानीं ब्रह्मतत्वमेव दुरधिगमत्वात् भूयोऽप्यभ्यसति मन्त्राणां जामिताया अभावात् स्वप्नेति—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।४।।

येन परमात्मना दत्तचेतनया असौ स्वप्नः अन्तः परिणामः यस्य तत् स्वप्नान्तं मनःकोषमयं लिङ्गशरीरं, जागरितं जाग्रदवस्था अन्तः परिणामं यस्य तत् स्थूलरूपं संसारं जागरितान्तं च कदाचित् पृथक्-पृथक् कदाचित् उभौ मिलितौ यद्वा नैवोभयत्र बहुब्रीहिः एवं जागरितस्य अन्तमवसानं स्वप्नस्य च अन्तमवसानम् उभौ द्वयोरप्यन्तौ अनुपश्यति अनुदिनमनुभवति । आशयोऽयं यदसौ प्रत्यगात्मा भगवतः कृपया विशुद्धचेतनां ततः समधिगम्य यदा जाग्रत्स्वप्नयोः सन्धिं जागरितान्तमेवं यदा च स्वप्नसुषुप्त्योः

सन्धिं स्वप्नान्तं, यदा च द्वावपि अनुपश्यति तदेव महान्तं महनीयगुणं विभुं व्यापकम् आत्मानं परमात्मानं मत्वा अवबुद्ध्य, न शोचति नेष्टवियोगजन्यं दु:खमनुभवति सततमिष्टदेवस्य स्वात्मना संनिधीयमानत्वात् । ।।श्री:।।

इदानीं ब्रह्मज्ञस्य प्रशंसामभिधते—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ।।५।।

य: यतमान: साधक: मध्वदं मध्वं कर्मफलं ददाति इति मध्वद: तं, यद्वा मध्वं मोहमदिरां द्यति इति मध्वद: तं, यद्वा मध्वं भजनानन्दं भक्तेभ्यो ददाति इति मध्वद: तथाभूतं, भूतभव्यस्य भूतेन भूतकालेन सहितं, भव्यं भविष्यत्कालस्य तत् सम्बन्धावच्छिन्नघटनानामित्यर्थ: यद्वा भूतं व्यतीतं जननात् पूर्वं भगवच्चरणारविन्दसन्निधौ क्षणजातं भव्यं मंगलमयं यस्य स भूतभव्य: । जीवो हि यावन्नपृथग् भवति भगवच्चरणारविन्दात् तावदेव तस्य भव्यं, वर्तमानं तु संसाराशंकत्वात् अभव्यम् यथोक्तं गोस्वामितुलसीदासमहाराजै:–

जिव जबते हरि ते विलगानो ।
तब ते देह गेह निज जान्यो ।
माया बस स्वरूप विसरायो ।
तेहि भ्रम ते नाना दु:ख पायो ।।

वि० प० १३६ ।।

एवं भूतस्य जीवजातस्य, ईशानम् ईशितारम् आत्मानम् अत्रत्यात्मपदं परमात्मनि निर्विवादतया तत्पर्यग्राहकम् । कथं ज्ञायते ? **ईशानं भूतभव्यस्य** इति श्रुते: । नहि क्षोदीयान् जीवात्मा भूतभव्यमीशितुं क्षमते जीवमन्तिकात् । अत्र त्रेधा व्याख्यानं प्रथमं प्रत्यगात्मपरम् अर्थात् य: आत्मानं परमेश्वरं जीवं जीवात्मामन्तिकात् निकटत: वेद जानाति । जीवो हि परमात्मनो निकटवर्ती य एवं जानाति तत: न विजुगुप्सते नान्योन्यं प्रति घृणेते । दूरं हि घृणा भवति परमात्मनो नैकट्येन **यत्र प्रविष्ट: सकलोऽपिजन्तु: आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति** यद्वा जीवशब्दो हि आत्मान-मित्यस्यविशेषणम् एवं जीवयति संम्पूर्णभूतानि प्राणयति य: स जीव:, तं जीवजीवनप्रदमिति भाव:, अन्तिकादिति वेत्रा सह अन्वय: अर्थात् यदि वेत्ता अन्तिकात् अतिनैकट्येन निजस्वामिनं परमात्मानं जानाति ततो न विजुगुप्सते परमात्मनश्चरणारविन्दयोर्बद्ध-

मनोमधुकरतया कुत्रास्ति विजुगुप्सावसरः, यद्वा जीवमिति षष्ठ्यन्तं जीवस्य इत्यर्थकं भूतभव्यस्य इत्यस्य विशेषणं ''ङसः सुपांसुलुकि'' इत्यनेन सुः तस्यामादेशः । एवं सेव्यसेवकतया समध्यवस्यन् न विजुगुप्सते न पापकर्ममणि प्रवर्तते इति भावः । यत्तु न विजुगुप्सते इत्यस्य न गोपयितुमिच्छति इति प्राहुः श्रीमच्छंकराचार्याः तदनुचितम् सर्वथैव शब्दशास्त्रमर्यादाविरुद्धं गुप् धातोः स्वार्थे सन् **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्** इति सूत्रेण घृणार्थे सनोर्विहितत्वात्, स्वयमपि शंकराचार्यैः ईशावास्योपनिषदः षष्ठे मन्त्रे ततो न विजुगुप्सते इत्यस्य अस्माद्दर्शनात् न घृणां करोति इति व्याख्यातम् । अहो एकैरेवाचार्यैः उभयत्र प्रयुक्तस्य एकस्यैव शब्दस्य व्याख्याद्वयं कुर्वद्भिर्वदतोव्याघातदोषः किन्नाधायि ? तस्मात् मदुक्तमेव व्याख्यानं शास्त्रसम्मतम् । ।।श्रीः।।

एवं पुनरप्यभ्यसति तमेवार्थमनालस्या श्रुतिः—

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ।।एतद्वै तत् ।।६।।

ननु पूर्वं भगवच्चरणारविन्द एव जीवस्य निवास उक्तः, सः कथमजायत इत्यत आह-यः प्रत्यगात्मा पूर्वं सृष्टिरचनाप्रारंभे, तपसः ब्रह्मणः **यस्यज्ञानमयंतपः** इति श्रुतेः । तस्मात् जातं समुत्पन्नः, अत्र व्यत्ययात् क्लीबानुरूपः सोरमादेशः । एवं य अद्म्यः जलादिपञ्चभूतेभ्यः पूर्वं प्रथमजायत, एवं भूतो यः जीवात्मा गुहां प्रविश्य चौतन्यावच्छेदेन तत्रैव तिष्ठन्तं भूतेन्द्रियं देवतागणैः व्यपश्यत् व्यलोकयत् एतत् समस्तं जीवजातदृश्यमानं वै निश्चयेन तत् श्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्म । ।।श्रीः।।

पुनरपि आनन्दमयत्वात् तमेवार्थमभ्यसति—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ।।७।।

इदानीं भगवतः स्त्रीमयीं विभूतिं स्मरति–या ब्रह्मरूपिणी देवतामयी देवताप्राचुर्यवती अदितिः देवमाता अखण्डब्रह्मता वा प्राणेन आत्मनैव सह सम्भवति, भूयश्च या भूतेभिः समस्तजीवात्मभिः सह व्यजायत विशेषेण जायमानाऽभवत्, जन्मवैशिष्ट्यञ्च स्वरूपच्युतिं विना गर्भाधानक्रिया निरपेक्षमर्थात् यत्र यत्रापि जीवात्मा गच्छति तत्र तत्रैव योनिषु परमात्मापि तदन्तर्यामितया तेन सहैव तिष्ठति । एवं गुहां हृदयं प्रविश्य तिष्ठन्ती सती या काचिन्नारीमयी एतद् ब्रह्मैव इति सामान्यः श्रुत्यर्थः । वयं तु सीताया अपि ब्रह्ममयत्वात् या सीताप्राणेन प्राणपतिना राघवेण सह सम्भवति भूतले जनकपुरावच्छेन प्रकटीभवति । कीदृशी सा-अदितिः दितिः खण्डनं तन्नास्ति यस्यां विनाशरहिंता

देवतामयी देवता एव देवतामयी, गुहां चित्रकूटगिरिगुहां प्रविश्य वनवासकाले प्रवेशं कृत्वा, भूतेभिः भान्ति इति भूतानि तैः अत्र **बहुलं छन्दसि** इत्यनेन ऐसोऽप्रवृत्तिः एवं भूतेभिः चित्रकूटस्य मुनितपोधनैः सह तिष्ठन्ती निजपर्णशात्मायां विराजमाना या परब्रह्ममयी नारी या व्यजायत विशेषेण मातृगर्भं परित्यज्य विशेषेण पृथिवीतः जज्ञ इति भावः । एतत् तदेव सीताभिधं प्रत्यक्षीभूतं ब्रह्म तत् त्वत्पृष्टम् ।

अधुना परमात्मनः पावकरूपेण निरूपणं करोति—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ।।
।। एतद्वै तत् ।। ।।८।।

गर्भिणीभिः अन्तर्वत्नीभिः सुभृतः गर्भाधानसंस्कारक्रियया धारितः गर्भ इव भ्रूणो यथा अरण्योः ऊर्ध्वाधस्तनारणिकाष्ठयोः ऊपरि निहितः स्थापितः जातवेदाः निखिलज्ञानवान्, एवं दिवे दिवे प्रतिदिनं जागृवद्भिः जागरूकैः हविष्मद्भिः हविर्युक्तहस्तैः होतृभिः मनुष्येभिः, अत्रापि ऐसभावः मानवैः, ईड्यःस्तूयमानः यः अग्निः तदवत् प्रकाशमानः, वै निश्चयेन तद्ब्रह्म । गर्भिणीगर्भवत् यस्तु अरण्योर्निहितः सदा स्तूयमानो हविष्मद्भिरेतद् ब्रह्म तदेव तत् । ।।श्रीः।।

भूयो ब्रह्ममहिमानं वर्णयति सूर्योदयास्तकारणप्रदर्शनच्छलेन—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ।।९।।

नचिकेतः ! यद्ब्रह्म त्वमपृच्छः तत्र सामान्यं, यतः यस्मात् भयहेतुभूतात् सूर्यः भास्करः उदेति प्रातरुदयं गच्छति यत्र अस्ताचलरूपे अस्तं गच्छति स्तिमितो भवति, तं परमपुरूषार्थरूपं सर्वे देवाः सुरा अर्पिता शासनशक्त्या समर्पिता आज्ञापालकत्वेन इति भावः । तत् परमेश्वरे सम्पन्नं विधिहरिहराणामपि शासकं महाविष्णुरूपं श्रीरामं ब्रह्म कश्चन कोऽपि प्रबलतमोऽपि जीवात्मा नात्येति नातिलंघते अलंघ्यमहिमत्वात् । ।।श्रीः।।

अधुना तस्य सर्वव्यापकतां नानात्वनिषेधञ्च प्रथयति—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।१०।।

नचिकेतः ! एकमेव ब्रह्म सर्वत्र दृश्यते, भवन्तु नाम तस्यानेकानि रूपाणि परमार्थतस्त्वेकमेव। इह लोके जीवात्मनो गुहायां यदन्तर्यामितया विराजते तदेव ब्रह्म अमुत्र परलोकेऽपि साकेते असमोर्ध्वानन्दसागरसुधापुञ्जीभूतमिव विराजते। यत् अमुत्र साकेते निरवधिकमहिममहीयते तत् तदेव ब्रह्म अनु अनुकूलं ब्रह्म न तु प्रतिकूलम्। इह चराचरे यः इह अस्मिन् लोके नाना इव अनेकतत्वकं पश्यति स मृत्योः मृत्युमाप्नोति पुनःपुर्नजननमरणमाप्नोति इति भावः। येत्वत्र दुराग्रहग्रहिलचेतस्तया उभयोः साम्यपर्यालोचनया साधयन्त्यैक्यं प्रमत्तगीतमिव कुतर्ककल्पजल्पितं तदुपेक्ष्यम्। ॥श्रीः॥

तस्मिन्नेव ब्रह्मणि अनन्यनिष्ठामुत्पादयितुं नचिकेतसं भूयः प्राह—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

इदमेतन्मया वर्ण्यमानं ब्रह्मतत्वम् इं कामं द्यति खण्डयति इति इदं कामादि-विकारनाशहेतुं मनसा शान्तेन स्वान्तेन, एव अन्ययोगं व्यवच्छिनत्ति नान्येन मनोतिरिक्तेन आप्तव्यं प्रापणीयम्। कुत्र वर्तते तत् इत्याह–इह अत्रैव विभाति। नन्वत्र तु नानारूपाणि दृश्यन्ते घटपटादीनि तानि निषेधयति-नेह नानास्ति किंचन किञ्चन नाना नास्ति, दृश्यन्तां नामानेकरूपाणि किन्तु तेषामाश्रयस्त्वेक एव परमेश्वरो रूपवान् इत्यनेन एकत्ववादिनामद्वैतप्रपञ्चो दूरमपास्तः। यत्तु नेह नानास्ति किञ्चन इत्यनेन सकलसत्ताविध्वंसपूर्वकब्रह्मैक्यं प्रतिपादयितुमीहन्ते तदापातरमणीयं बालभाषितमिव। वस्तुतोऽत्र चर्च्यमानस्य नानात्वं निषिध्यते ब्रह्मणः, न तु जीवब्रह्मणोर्भेदः। आप्तव्य-मिति कृत्यप्रत्ययान्तकथनेन कर्तारमन्तरेण क्रियाया अनुपपन्नत्वात्, तयेव आप्तिक्रियया कर्तृभूतस्य जीवस्य आक्षेपे तत्सत्तापार्थक्यं स्वयं सिद्धम्। एवं हि मनसैवेदमाप्तव्यं, केन ? इत्यपेक्षायां जीवेनेति स्वयमागतं, तस्यैव समनस्कत्वात् ब्रह्मणोऽमनस्कत्वं तु **अप्राणोहिमनाशुभ्रः** इति श्रुत्यैव निराकृतम्। एवं यः इह संसारयात्रायां सर्वरूपेषु व्याप्तं ब्रह्म अयं घटः अयं पटः इति नाना इव पश्यति, सः मृत्योः मृत्युं मरणं प्राप्य भूयोऽपि मरणं गच्छति प्राप्नोति। ब्रह्मैव घटपटत्वेन पश्यन् म्रियते घटपटं ब्रह्मत्वेन पश्यन् अमरो भवति इति भावः। केचन नानेव इति प्रयुक्तमिवकारं वाक्यालङ्कारं मत्वा निरर्थकं निश्चुन्वन्ति, परमहं श्रुतीनां प्रत्यक्षरं सार्थकमिति विश्वसन् इवशब्दं सादृश्यार्थं मत्वैव व्याचक्षे। तथा च अत्र नानेकत्वं प्रत्युत् नाना सादृश्यमपि निन्दति। अर्थात् यः खलु घटपटादिनानारूपसदृशं ब्रह्म पश्यति सोऽपि मृत्योः मृत्युं गच्छति इति तात्पर्यम्। किं भोः ! भवन्मते ब्रह्मसादृश्यदर्शनस्यापि विगर्हणा सिद्धान्तिता ?

अथकिं तत्र श्रुत्या स्मृत्या च विगर्हणा स्पष्टिता **न तस्य प्रतिमास्ति** इतिश्रुतिः **न त्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो** । गीता अध्याय, ११,४३ ।

अथ कथं तर्हि श्रीमद्भागवते द्वितीयस्कन्धे सादृश्यप्रतिपादनाय धारणायोगो वर्णितः ? हं हो सुकुमारबुद्धे ! तत्र ब्रह्मणः स्थूलवर्णनं ननु सादृश्यदर्शनम् । सादृश्येन स्मरणस्य स्वीकृतत्वात् अतएव तत्र तत्र श्रुतिषूपमाः दृश्यन्ते । ।।श्रीः।।

अथ पूर्वोक्तं सादृश्यस्मरणमुपबृंहयति अंगुष्ठेत्यादिना—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ।।१२।।

पुरूषः सर्वतः परिपूर्णतमः परात्परब्रह्मश्रीरामः आत्मनि शरीरे मध्ये तन्मध्यभागे हृत्पुण्डरीके, अंगुष्ठं परिमाणं यस्य सोऽङ्गुष्ठमात्रः **प्रमाणे द्वयसज्दध्नञ्मात्रचः** इत्यनेन प्रमाणार्थे मात्रच् प्रत्ययः । अङ्गुष्ठप्रमाणो लघु तिष्ठति विराजते । ननु परमात्मा तु सर्वत्र तिष्ठति आब्रह्मस्तम्भे कोप्यतादृशोऽपि जन्तुर्योऽङ्गुष्ठतोऽपि क्षोदीयान्, पिपीलिकादिस्तु क्षोदिष्ठः तत्र ब्रह्मणः कथं सेत्स्यत्यङ्गुष्ठमात्रता ? इति चेत् साधीयांस्ते प्रश्नः, अत्र श्रुतिः मानवमभिलक्ष्य उपदिशति तस्यैवपरमार्थज्ञाने सामर्थ्यात् पश्वादीनांकृते अरण्यरोपदनमुपदेशः तस्मान्मानवहृत्कमले अङ्गुष्ठमात्रः अन्येषु शरीरेषु तत्तदाकारानुरोधेन । यद्वा जीवात्मा प्रतिशरीरं तिष्ठति तस्य पुरूषरूपेण श्रुतिषु प्रसिद्धेः मानवाकारता अतो जीवात्मनः अङ्गुष्ठमात्रो भगवान् जीवात्मनश्च तत् तत् शरीरानुसारेण लघुत्वमहत्वव्यवस्था । एवं भूतभव्यस्य अतीतानागतस्य ईशानम् ईशनकर्तारं साक्षात्कृत्य ततो न विजुगुप्सते निर्मलो भवति इति भावः । ।।श्रीः।।

अथ अङ्गुष्ठमात्रस्य ब्रह्मणः सार्वकालिकतां निरावृत्तप्रकाशकत्वं सूचयति—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ।। एतद्वै तत् ।।१३।।

एवम् अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषः योगिनां ध्येयः सहस्त्रदलकमले अंङ्गुष्ठप्रमाणः **अंङ्गुष्ठमात्रममलं स्फुरपुरटमौलिनम्** इतिस्मरणात् (भागवत् १-१२-८) अधूमकः नास्ति धूमः विकारः यस्मिन् सः ज्योतिः इव प्रकाश इव, अत्र व्यत्त्ययात्पुंस्त्वम् । तादृक् भूतभव्यस्य वर्तमानभविष्यतः, ईशानः ईशिता सःपरमात्मा एव नान्यस्तदतिरिक्तः, उ निश्चयेन सःपरमात्मैव श्वः आगामि दिनेऽपि भविष्यति तस्य त्रिकालस्थत्वात् । ।।श्रीः।।

अधुना परमात्मनि नानात्वं पश्यतां दुर्दशां वर्णयति–

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ।।१४।।

यथा दुर्गे दुर्गमस्थाने उच्छ्रिते वृष्टमुदकं मेघमुक्तजलं पर्वतेषु निम्नस्थानेषु पर्ववत्सु विधावति विकृतं गच्छति, एवं परमेश्वरात् पृथक् धर्मान्पदार्थान् पश्यन् विभावयन् तानेव निम्नभोगान् अनुक्षणं विधावति विकलं धावति, वैकल्यञ्च भगवत्पार्थक्यजुषां पदार्थानाञ्चिन्तने स्वाभाविकमेव । तथा च मानसकार: - **भूमि परतभा डाबर पानी, जनु जीवहि माया लपटानी** ।।श्री:।।

अथ विरूद्धचिन्तनेन तत्सम्पर्कदोषमलीमसत्वं प्रतिपाघ साम्प्रतं शुद्धब्रह्म-चिन्तनेन जीवात्मशोधनं वर्णयति—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।१५।।

अधुना ब्रह्मोपदेशश्रवणविनिहतसमस्तपाप्मनो नचिकेतस: वंशनाम संकीर्तयन् महता समादरेण समुपसंहरति वल्लीमिमाम् । हे गौतम ! गौतमवंशवर्धन नचिकेत: । मलयुक्ते स्थाने वृष्टं जलं तु मलमनुगच्छति किन्तु कदाचित् सौभाग्येन विशुद्धे जाह्नवीजले निर्दोषं सत् निर्दोषमेव तिष्ठति परिणामेपि । यथा शुद्धं निर्दोषमुदकम् जलं शुद्धे निर्दोषे जले आसिक्तम् आदरेण मुक्तं मेघरूपचिन्तनेन तादृगेव भवति तादृङ् निर्दोषं सम्पद्यते । एवं विजानत: अहं दास: परमात्मा स्वामीत्थं ससम्बन्धं परमात्मानं चिन्तयमानस्य मुने: श्रुतितत्वावगन्तु: आत्मा प्रत्यगात्मायं तादृक् शुद्धपयसि सिक्तं पय इव शुद्धो भवति । श्री: ।

इति काठकोपनिषदि द्वितीयोऽध्याय: प्रथमवल्ली
।।श्रीराघव: शान्तनोतु।।

अथ द्वितीया वल्ली

पूर्वस्यां वल्यां द्वि: अङ्गुष्ठमात्र: पुरूष इत्युक्तम् ।

तत्र पुरुषशब्दव्युत्पत्तिविचारे, पुरि शरीरे उ निश्चयेन शेते य: स: पुरूष: इति निरूक्तिमुद्भाव्य, कथमिदं शरीरं पुरम् अत्र कोहि निवसति को ह्यस्य स्वामी के दौवारिका:कान्यत्र द्वाराणि ? इत्यनेक जिज्ञासासमाकुलमनसे नचिकेतसं समीक्ष्य पुररूपकं वर्णयता यमेन पंचमवल्ली प्रारंभ: पुरमित्यादिना—

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ।। एतद्वै तत् ।।१।।

अवक्रं सरलं चेतः चेतना चित्तं वा यस्य तथाभूतस्य, अजस्य जन्मरहितस्य परमात्मनः, एकादशद्वारं एकादशसंख्यानि द्वाराणि द्वारभूतानि छिद्राणि द्वे चक्षुषोः, द्वे नासिकयोः, द्वे कर्णयोः, एकं मुखस्येति सप्त शीर्षण्याणि द्वे पायूपस्थयोः एकं नाभौ एकं च मध्येशिरः ब्रह्मरंध्रनामकं इत्येकादशसंख्यानि द्वाराणि यस्मिन् तादृक् पुरं, यत्र पञ्चप्राणाः एवद्वारपालाः, बुद्धिरेव महाराज्ञी, मनएव मन्त्री एतादृशं निवासयोग्यं शरीरं पुरं परमात्मनः कृते नगरमनुष्ठाय कृत्वा, ना शोचति जीवात्मेतिशेषः । तात्पर्यमिदं यज्जीवात्मायं महाराजस्वभावः स्वकीयप्राख्येन शरीरमिदं निर्मायते किन्तु सहायक-मन्तरेण तस्यापि शोकसंम्भावना, अतोऽयं यदि कामादि निकारान् निवासाभिलाषिणो निरस्य वक्रचेतसानजस्य अवक्रचेतसः परमात्मनः निवासाय पुरमनुतिष्ठति, तदनुरोधेन च सखेव सः परमात्मा तेन सह खेलति तदायं जीवात्मा शाश्वतसुहृत्सहयोगः नशोकं करोति । यत्तु अनुष्ठाय इत्यस्य ध्यात्वेत्यर्थं व्याचक्षते तदनुचितं कुत्राप्यनूपसृष्टस्थाधातोः ध्यानरूपार्थस्याश्रवणात् । ममतु पुरमित्यनेन सहकृत्वेत्यर्थकस्य अनुष्ठायेति ल्यबन्तस्य अन्वये सर्वं शास्त्रीयतया समञ्जसम् । इदं क्षेत्रभूतं शरीरं परमात्मनिवासाय, पुरीकृत्य किं सौलभ्यं लभते जीवात्मा परमेश्वरात् ? इत्यत आह— च तथा च निजमित्रजीवात्मनिर्मिते शरीररूपे पुरे परमात्मा सुखं शेते, शयाने च तस्मिन् सुहृत्तमे दुर्हृदः कामादयः पलायन्ते । अतः तैर्विमुक्तः न पुनराक्रान्तुमितिप्रतिज्ञाय व्यक्तः विमुच्यते कामक्रोधादिकृत भववन्धनादपि विशेषेण मुच्यते । ।।श्रीः।।

अथ यस्य सरलचेतसः जन्मरहितस्य कृते स्वशरीरं पुरं विधातुं प्रत्यगात्मासौ निर्दिश्यते श्रुत्या, स किं गुणकः, किं माहात्म्यः नहि सामान्यस्य निवासाय कोऽपि कृषियोग्यामुर्वराभूमिं नगरीचिकीर्षति, इति चतुर्दशगुणैः तं पुरूषं स्तौति हंस इत्यादिभिः—

हंसः शुचिसद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृसद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ।।२।।

हंसः हन्ति भक्तानां पापं हिनस्ति इति हंसः हंसवन्निर्मलः, यद्वा हंसः सनकादिसंशयच्छेदाय गृहीतहंसावतारः मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः इतिस्मरणात्, यद्वाहंसः हंसवंसावतंसो रामः । न केवलं हंस इव शुचिः अपि तु शुचिषु पवित्रेषु सीदति तिष्ठति इति शुचिषत् पवित्रभक्तमनोऽरण्यवासी

अथवा शुचौ परमपवित्रसाकेतलोके एवं सीदति यस्तादृशः । वसुः वसुरूपः यद्वा वासयति सर्वान् यः स वसुः । एवमन्तरिक्षसत् अन्तरिक्षे नभसि सीदति यः स इत्यर्थः वायुरूपः । तथा वेदिसत् वेदीषु यज्ञवेदिकाषु सीदति प्रतिष्ठितोतिष्ठति यः स होता हवनकर्ता अग्निः **होतारंरलधावतम्** इतिश्रुतेः । तथा च दुरोणसत् **दुरोणः कलसे गृहे** इति कोषात् दुरोणेषु कलशेषु सीदति इति दरोणसत् सोमः, यद्वा दुरोणेषु गृहेषु सीदति इति दोरोणसत् गृहागतोऽतिथिः ब्राह्मणः अभ्यागतः । नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत् अन्तर्यामी । वरेषु सुरवरेषु मुनिवरेषु वा सीदतीति वरसत् महाविष्णुः । ऋते सत्यवाण्यां सीदतीति ऋतसत् सत्यनारायणः, यद्वा ऋते सत्ये सीदतीति तथाभूतो यज्ञेश्वरः । व्योमसत् अत्रान्तरिक्षव्योम्नोः समानार्थकत्वात् द्विरूक्तापत्तेः व्योम भक्तहृदयं तस्मिन सीदति इति व्योमसत् परमात्मरूपेण । एवमप्सु जायते इति अब्जा मत्स्यावतारः कमठावतारो वा । गवि पृथिव्यां जायते इति गोजा नृसिंहवामनपरशुरामरामकृष्णरूपः । ऋतजा ऋते सत्ये जायते यज्ञे वा ऋतजा नारायणो ऋषिः । अद्रिजा अद्रौ पर्वते जायते इति अद्रिजा । ऋतं सत्यवाक्स्वरूपम् । बृहत् अतिशयवर्धनशीलं, बलिबन्धनकाले ऋतबृहतोदर्शनात् । संग्रहश्लोकस्त्वस्याः श्रुतेः—

हंसः शुद्धमनःस्थितो वसुरथो वायुर्नभस्थोऽनलो ।
वेद्याम् वै कलशे शशी गृहगतो विप्रो नरे पूरूषः ।।

मत्स्यो राघवकेशवौ नरऋषिर्नारायणो वामनः ।
देवे विष्णुरथो मखे मखपतिः हृत्स्थः प्रभुः वारिणि ।।

अथ शरीरस्थस्य भगवतः सांख्यैरिव निष्क्रियत्वम् उताहो सक्रियत्वमिति जिज्ञासां समादधत् तत्सक्रियतां सूचयति–ऊर्ध्वमित्यादिना–

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ।।३।।

प्राणं प्राणवायुं शरीरस्थोऽयम् ऊर्ध्वम् उपरिमुखनासिकाभ्यां नयति । अपानमपानवायुं प्रत्यगस्यति नीचैः क्षिपति । इदं पूर्वानुरोधेन वस्तुतस्तु प्राणः प्रकृष्टकर्मजीवात्मवाची, अपानश्च अधोगतिगामिजीवात्मवाची । एवं शरीरस्थोऽयं परमात्मा जीवस्य शुभाशुभं साक्षित्वेन पश्यति, तथाच प्राणं प्रकर्षेण अनन्तं परमात्मसाक्षात्काराय यतमानमूर्ध्वं नयति निजपरमधाम गमयति एवमपानमपकर्षेणानन्तमधोगतिमभिगच्छन्तं प्रत्यगस्यति संसारसागर एव क्षिपति । तथा चाह गीतायां भगवान्—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।

(गीता १६,१९)

अतएव **प्राणः** इतिः ब्रह्मसूत्रम् ब्र० सू० १/१/२५

एवं भूतं जीवेभ्यः शुभाशुभदातारं मध्ये शरीरमध्यभागे हृत्पुण्डरीके आसीनं निवसन्तं वामनं, वन्यते सम्यक् भज्यते इति वामनः तं वामनम्, यङन्तादच् प्रत्ययः अभ्यासनकारलोपो दीर्घः द्वितीयवकारस्य मकारश्च प्रसोदरादित्वात् साधुः । यद्वा वामान् स्वचरणकमलविमुखान् संसारसागरे क्षिपति इति वामनः तं वामनं विश्वेदेवाः समस्तसुरगणाः चतुर्दशकरणदेवाः वा उपासते कैङ्कर्यविधिना सेवन्ते । श्रीः ।

अधुना युक्त्यापि जीवात्मनः पृथक्सत्ताकं ब्रह्म निरूपयति अस्य इत्यादिना—

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्रपरिशिष्यते । एतद्वै तत् ।।४।।

अयं परमात्मा जीवात्मनिर्मितशरीरपुरे तिष्ठति एवं हि विस्रंसमानस्य कालेन सूचनां विनापि त्याज्यमानस्य स्वस्थानं, शरीरस्थस्य शरीरे तिष्ठति इति शरीरस्थः तथाभूतस्य, देहः अस्तिः अस्य इति देही तस्य अत्यन्तं देहसंम्बन्धिनः देहात् देहं व्यक्त्वा विमुच्यमानस्य जीवात्मनः अत्र संसारे किं परिशिष्यते ? सर्वाणि धनानि तु क्षणभंगुराणि नानेन सह यान्ति, अतः एतस्य त्यक्तशरीरस्य स्वभूतं किं परिशिष्यते ? इति पृष्टः प्राह-एतत् इदं ब्रह्मैव जीवात्मनो नित्यधनं पत्न्यादयस्तु शरीरानुबन्धिनः तस्मिन्नष्टे तेऽपि नष्टाः अतएव यज्जीवस्य प्रतिजन्मधनमेतदेव वै निश्चयेन तद्धनम् ।।श्रीः।।

अधुना जीवात्मनो जीवनत्वेन परमात्मसत्तां संकीर्तयति न प्राणेनेत्यादिना—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन् ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।।५।।

प्राणेन पञ्चधा विभक्तेन, मर्त्यः कश्चन कोऽपि मरणधर्मा, न जीवति नैव श्वसिति। एतस्यापि परार्थत्वात् । अपानेन अपानशब्दोऽत्र चक्षुरादिबोधकः तेनापि गोगणेन नैव जीवति । अथ तर्हि केन जीवति ? इत्यत आह-इतरेण प्राणापानविलक्षणेन परमात्मनैव जीवन्ति, सर्वे जीवात्मानः प्राणान् धारयन्ति । जीवन्ति इति बहुवचनेन

जीवात्मबहुत्वं सिद्धं, तस्मिन् साक्षिणि सति एतौ प्राणेन्द्रियगणौ उपाश्रितौ उप सामीप्येन जीवात्मान- माश्रितवन्तावितिभावः । ।। श्रीः ।।

इत्थं पञ्चभिर्मन्त्रैः जीवात्मपरमात्मनोः संम्बन्धं समभ्यस्य पुनर्ब्रह्मसनातनं प्रवक्तुं प्रतिजनीते—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ।।६।।

हे गौतम नचिकेतः ! हन्त इति प्रसन्नतावाचकमव्ययम् । ते तुभ्यं जिज्ञासवे, इदं प्रत्यक्षतोऽनुभूयमानं, गुह्यं वेदेषु निगूढं सनातनं ब्रह्म अनस्वरं ब्रह्मतत्वं प्रवक्ष्यामि प्रवचनविषयं करिष्यामि । यज्ज्ञात्वा निजस्वामित्वेन विदित्वा मरणं प्रारब्धक्षयं प्राप्य, प्रेतोऽयमात्मा भवति, इन्द्रियार्थमनोबुद्धिभ्यो निरस्यात्ममतिम् आत्मा विशुद्धचैतन्यघनः भवति, यद्वा आत्मने परमात्मने भवति, छान्दसः सुब्लुक् यद्वा मरणं मस्य जीवस्य अरणं शरणं शकन्ध्वादिपररूपं, सकलजीवशरण्यं परमात्मानं प्राप्य आत्मा भवति, शरीरादिभ्यो विरज्य मुक्तात्मा भवति । श्रीः ।

अधुना जीवकर्मफलानुसारगतिव्यवस्थां वर्णयति योनीत्यादिना—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।७।।

देहिनः देहः सम्बन्धत्वेनास्ति येषां ते देहिनः, सम्बन्धे मत्वर्थीयः देहसम्बन्धाभिमानवन्त इति भावः । अन्ये भगवत्किंकरातिरिक्ताः शरीरत्वाय शरीरभावाय, त्वप्रत्ययो हि भावार्थः, केचन शरीरिणोऽपि भगवद्भजनमहिम्ना देहभावविवर्जिताः स्वभावे परमात्मकैंकर्यरूपे तिष्ठन्ति । भगवद्विमुखाश्च देहाभिमानवत्वात् शरीरभावाय योनिं मातृगर्भद्वारं प्रपद्यन्ते शरण्यत्वेन गच्छन्ति न तु परमात्मानम् । शरीरादपि हि शरीरत्वं दुस्त्यजतरं कथं योनिं प्रपद्यन्ते ? यथाकर्म पूर्वजन्मनि साधुकर्म कृतं चेत् सात्विकयोनिं गच्छन्ति, दुष्कर्म कृतञ्चेत् सूकरकूकरयोनिम् । शरीरभावाय कथं यान्ति ? अत उत्तरयति—श्रुतं श्रवणमतिक्रम्य ग्राम्यविषयाः श्रुताः, अतो देहभावलिप्सा न निवृता । अन्ये भगवदीयाः स्थाणुं तिष्ठन्ति, नित्यं साकेतादौ भक्तमनोमन्दिरेषु यः सः स्थाणुः ब्रह्ममयो रामः **सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुः** इतिस्मृतेः, अनुसंयन्ति देहभिमानशून्यत्वेन परमेश्वरपद्पद्मकरन्दमधुव्रताः अनुकूलसम्बन्धेन सेवकसेव्यभावेन भगवता सह सम्बध्यन्ते । यत्तु स्थाणुं स्थावरं गच्छन्तीति केचन विजल्पुः तत्तु

परमेश्वरमन्यमानानां भगवद्भजनरसापरिचितानां पातकपरिणामभूतमिव । अन्य इति कथनेनैव तत्र देहाभिमानतोऽतिरिक्तजीवात्मचर्चाया: सुस्पष्टं श्रुतिविहितत्वात् । श्री: ।।

ननु पूर्वमन्त्रे देहाभिमनशून्या: परमात्मना सह सम्बध्यन्ते इत्युक्तं स स्थाणुरिति निर्दिश्यमान: कीदृङ्महिममण्डित ? इति जिज्ञासमानं प्राह—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरूषो निर्मिमाण: । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिंल्लोका: श्रिता: सर्वे तदु नात्यैति कश्चन । एतद्वै तत् ।।८।।

एष: स्थाणु: सन् निष्क्रियो न तिष्ठति प्रत्युत् स्वभावं विस्मृत्य मोहनिद्रायां सुप्तेषु शयितेषु जीवेषु सत्सु पुरुष: पौरूषप्रधान:, कामं लौकिकं, कामं पारलौकिकं निर्मिमाण: निर्माय वितरन्, जागर्ति प्रबुध्यते । तदेव शुक्रं तत्परब्रह्मैव वीर्यं बलं भक्तानां, तदेव अमृतं आस्वादनीयतया सुधा रस: उच्यते निगद्यते । तस्मिन् परमात्मन्येव सर्वलोका: साधिकारिण: श्रिता: आश्रितवन्त:, उ निश्चयेन तत् परब्रह्म कश्चन साहसिकोऽपि नात्येति नातिक्रामति । श्री: ।

अथ सरलतया बोधयितुं अग्निवयुसूर्योपमानै: परमात्मानमपि निरूपममुपमायते अग्निरित्यादिना—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।९।।

यथा एक एवाग्नि: अग्रे नीयमानत्वात् पावक:, भुवनं भवन्ति भूतानि यस्मिन् तत् चराचरमितिभाव:, प्रविष्ट: रूपं रूपं प्रति प्रत्येककाष्ठं प्रविष्ट: च बहि: स्वतन्त्रोऽपि रूप: रूपवान् तथैव सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूतानि अन्तरात्मनि यस्य स: सर्वान्तर्यामी रूपं रूपं प्रति प्रत्येकशरीरं प्रतीक्ष्य तिष्ठति । बहि: वाह्यदेशे रूप: स्वतन्त्ररामादिरूपधारी विराजते ।। श्री: ।।

भूयस्तमेवार्थमनुवदति—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।१०।।

यथा एक: वायु: प्राणादिरूप: भुवनं प्रविष्ट:, रूपं रूपं प्रति प्रत्येकमानवशरीर-मभिव्याप्य, बहिरपि रूप: महावायुरूप: स्वतन्त्रो वहति, तथैव एक: परमात्मा सर्वभूतानामन्तरात्मा, साक्षित्वेन व्याप्तं रूपं रूपं प्रतिप्राणिशरीरं व्याप्नुवन् रूपो

बभूव रामादिरूपेण समवततार । इत्थं द्वयोरपि मन्त्रयो: रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव इत्यभ्यासेन निराकारवादिन: परास्ता: ।।श्री:।।

ननु यदि भवत्प्रतिपादनानुसारं परमात्मनोऽपि रूपवत्ता, रूपवन्तोऽपि खलु दु:खै:रमिभूयन्ते किं तर्हि तदवत्तया परमात्मापि लोक दु:खेन पीड्यते ? नेत्याह सूर्य इति—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।११।।

यथा सर्वलोकस्य प्राणिजातस्य चक्षु: नेत्रं तत्प्रकाशकश्च सूर्य: सर्वप्रेरको भास्कार: चाक्षुषै:, चक्षुषा गृह्यमाणै: वाह्यदोषै: रज:कणनीहारमेघादिभि:न लिप्यते न व्यवहितप्रकाश: क्रियते तथैव सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूतानाम अन्त:करणं मन: आदत्ते रूपमाधुर्येण चोरयति य: स परमात्मा लोकदु:खेन संसारप्रतिकूलवेदनीयेन न लिप्यते न परिभूतविवेको विधीयते । कथम् यतो हि स बाह्य: जगत्प्रपञ्चतो बहिर्भूत: । सूर्यवत् निरस्तमायातमीक इति भाव: । श्री: ।

अथ ब्रह्मणश्चमत्कारं वर्णयति द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम्—

एकोवशी सर्व भूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।१२।।

भगवान् एक: अद्वितीय:, वशी सर्वं वशीकृत्य तिष्ठन्, सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानमन्तर्वर्ती य: सर्वसामर्थ्यशाली, एकमेव रूपं स्वशरीरं बहुधाकरोति भक्तभावनया तत् संख्यानुसारेणात्मानं परिणमयति, यथा च श्री भागवते महारासे—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित: ।
रेमे स भगवाँस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ।।

(भा० १०,३३,२०)

एवं तं प्रणतपालमात्मस्थमात्मना जीवभूतेन सार्धं तिष्ठन्तं, ये धीरा: भजनस्थिरमनस: अनुपश्यन्ति आनुकूल्येन अनुदिनम् अनुक्षणं वा नयनविषयं कुर्वन्ति, तेषां परमात्मानमनुपश्यताम् शास्वतं सार्वकालिकं सुखं मङ्गलमितरेषां परमेश्वराभक्तानां न कदापि नहि । श्री: ।

ननु भगवन्तमनुपश्यतां शाश्वतं सुखमुक्तं, तर्हि यदि जीव एव नाशवान् कथं तस्य शास्वतं सुखं, यदि नास्ति तर्हि भवद्वचनप्रामाण्ये संदेह: इति विषमोपन्यास: अत आह-नित्य इत्यादि—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।१३।।

यम: साक्षेपं प्राह-क: खलु मन्दधीर्जीवात्मानित्यतां प्रलपति, को नाम तस्यैकतां जल्पति । वस्तुतस्तु जीवा: नित्या: बहवश्च । यद्येकस्तर्हि तस्मिन्मृते सर्वे मृता: भवेयु:, एकस्मिन् जीवति सर्वे जीवेयु:, एकस्मिन् मुक्ते सर्वे मुच्येयु:, एकस्मिन् बध्ये सर्वे बध्येरन् । तस्मात् य: परमात्मा नित्यानां विनाशरहितानां जीवात्मनां नित्यसम्बन्धी नित्य: अविनाशी, चेतनानां स्वं चेतयताम् चेतन: चेतयिता, स्मरतां स्मर्तेतिभाव: । एवमेक: बहूनामनेकाभिलाषवतां कामान् मनोरथान् विदधाति सफलान् करोति । यत्तु केचन नित्य: नित्यानामित्यत्र नित्य: अनित्यानाम् इति पूर्वरूपपुर:सरं व्याचक्षते तदतीव हास्यास्पदं । चेतनश्चेतनानमित्यत्र विसर्गपरिणाम तालव्यशकारनिर्देशात् नित्यो नित्यानामित्यत्र श्रुतिरेव अकारप्रश्लेषं निवारयति, अन्यथा चेतनोऽचेतनानां इति ब्रूयात् । तादृशमात्मस्थं तं परमात्मानं ये धीरा अनुपश्यन्ति भेदभक्त्या भजन्ते तेषामनन्यमनसां शाश्वती नित्याशान्ति: तापत्रयविनाशोपलक्षिता, इतरेषामभेदवादिनामभक्तानां वा न । मन्त्रेणानेन एकत्ववादिनामभेदवाक्यप्रासाद: भूमिसाद्विहित: ।। श्री: ।।

इत्थं ब्रह्मनिरूपणं श्रुत्वा नचिकेता जिज्ञासते तदिति—

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ।।१४।।

नचिकेता प्रणत: पृच्छति-देव ! तत् भवदुक्तं गुह्यं सनातनमेतत् एवं प्रकारकं नित्यो नित्यानामित्यादि अनिर्देश्यं विशिष्टाद्वैतपरमं सकलकार्यकारणातीतं सुखं सुखस्चरूपं, मन्यन्ते भवन्त: स्वीकुर्वन्ति, तर्हि अहं बालक: सन् कथं जानीयाम् केन प्रकारेण ज्ञानविषयं कुर्याम्, किं तद् ब्रह्म उ निश्चयेन भाति सर्वत्र दीप्यते वा अथवा विभाति विशिष्टाद्वैतिषु भक्तेष्वेव भाति दीप्यते अर्थात् यदि विशिष्टेषु दीप्यते तर्हि का कथा मादृक् वराकाणाम् ।। श्री: ।।

एवं जिज्ञासमानं नचिकेतसं परिशान्त्वयन् प्राहपाशपाणि: नेति–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुलोऽयमाग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।१५।।

तत्र तस्मिन् परमात्मनि विषये सूर्य: त्रिभुवनप्रकाशकरवि: न भाति तं न प्रकाशयितुं प्रभुर्भवतीति भाव:, न चन्द्रतारकं भाति इति शेष: । इमा: चमत्कुर्वाणा: विद्युत: चपला: अपि नो भान्ति, अयमस्मद्गृहे तिष्ठन् अग्नि: अस्मद्गृहगत: कुत:

कथं भास्यति। तमेव परमप्रकाशं भान्तमनुदीप्यमानमनुलक्ष्य सर्वं सूर्यचन्द्रतारकविद्यु-दग्निप्रभृति भाति दीप्यते। तस्य परमप्रकाशनिधेः भाषा दीप्त्या इदं दृश्यमानं सर्वं पूर्वोक्तप्रकाशकपुञ्जं विभाति प्रकाशते। अतः परमात्मा ज्ञानिषु भाति भक्तेषु च विभाति इति विवेकः। श्रीः।

इति कठोपनिषदि द्वितीयवल्लीभाष्यम्
।। श्रीराघवः शान्तनोतु ।।

अथ तृतीया वल्ली

अथ ब्रह्मविवेककाले संसारासारताज्ञानं परमावश्यकं, संसारे हि संशक्तचित्तो नालं ब्रह्मविवेक्तुम्। अयं च संसारः सलिलप्रवाहरूपेण सततं संसरन्नास्ते नोपरमयति क्षणमपि। जीवोऽयं मरुमरीचिकाजलं मृगयन् कान्तारेऽस्मिन् भ्रष्टमार्गो मृग इव भ्राम्यन् म्रियते। तस्मादिमं समुपदिदिक्षुः परमकारुणिका श्रुतिः वृक्षरूपकच्छलेन संकेतयति साधकं सर्वभावेन परमपुरूषार्थवाच्यं परमेश्वरं श्रीरामाभिधं ब्रह्म शरणं गन्तुम्, यतो हि परमात्मानमन्तरेण क्षेत्तुमशक्योऽयं संसारतरुः **स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्** इतिस्मरणात् तथाहि–

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन्।। एतद्वै तत्।।१।।

ऊर्ध्वमुपरि वैष्णवे धाम्नि मूलं यस्य तथाभूतः, अवाच्यः निम्नगामिन्यः, शाखाः काण्डानि यस्य सोऽवाकशाखः तादृशः, एषः पुरोदृश्यमानः सनातनः प्रवाहावच्छेदेन नित्यः न तु स्वरूपतः, तदेव स्पष्टयति–अश्वत्थः न श्वः आगामि दिनेऽपि तिष्ठति इति अश्वत्थः एकदिनमप्यस्य स्वरूपेण स्थायित्वं न निश्चेतुं शक्यमतः पिप्पल इति नावदत्, अश्वत्थकथनेन श्लेषात् पिप्पलवृक्षत्वक्षणभंगुरत्वेति भावद्वयावगतिः सुलभा। अयं हि भगत्कृपानाशक्तिशस्त्रसमुच्छिद्यमानमूल एकायनः, परमेश्वरप्रत्यगात्मपक्षिपरायणः, छन्दःपर्णः, परिकलितगुणत्रयशुक्लकृष्णलोहितत्रिवर्णः, संसृतिकल्पितसम्बन्धालवालो, विषयप्रवालः, शुभाशुभफलरसालः, सन्निहितविवुधमनोरथकुसुमजालः, परिकलित चतुरवस्थाचतूरसः, समाहितजन्मसत्ताह्रासविकासविलासविनाशषड्स्कन्धः, अधिकृत-पंचविंशतिसरसशाखः, समलङ्कृतसप्तधातुसप्तचर्मा, अविद्यावल्लिसंबलितधर्मवर्मा, निवासितनिजच्छायासमीपनिविडतमिस्त्रः, ज्ञानाज्ञानालोकालोकमिश्रः, घोरघनघर्म-

संतप्तललाटमकरकेतनलालाटिकपरमश्रान्तपान्थविश्रामदाता, महामोहकाकोलूक-क्रूरखगव्रातभाग्यविधाता दुर्धषः, संसारविटपोऽयमश्वत्थः, कुमतिमहीतलसंस्थः येन परमात्मना निजकृपाकुठारधारया छेत्तुं शक्यते। तदेव शुक्रं शुद्धं कर्मानुवेधरहितमितिभावः। तद्ब्रह्म अतिशयवर्धनशीलं बृहद्गुणयुक्तं, तदेव अमृतं मरणधर्मरहितमित्युच्यते। तस्मिन्नाधारे सर्वेलोकाः श्रिताः श्रयणं कृतवन्तः । तत् कश्चन न अत्येति अनतिक्रान्तवीर्यत्वात्। वृक्षरूपकमिदं कठोपनिषदि, श्रीमद्भागवते, श्रीगीतायां, श्रीमानसे चापि स्वस्व बुद्ध्यनुसारं वर्णयामासुर्मनीषिणः भागवते यथा–

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा ।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदो द्विखगो ह्यादिवृक्षः ।।

(भागवत १०/२/२७)

श्री गीतायाम्–

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।

(गीता १५.१)

मानसे सप्तमे सोपाने वेदस्तुतौ–

अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमानम घने ।
षटकंध शाखा पंच बीस अनेकपर्णसुमन घने ।
फल जुगलविधिकटुमधुर बेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे ।

(मानस० उ० १३/५)

इममेव वृक्षं स्वभक्तकृते यश्छिनत्ति छेदयति च तस्य ब्रह्मणः स्वरूपं वर्णयति–

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।२।।

इदं प्रत्यक्षीभूतं यत्किञ्चसर्वं जगत् चराचरं तत् प्राणे परमात्मनि एजति चलति, निजकर्मसक्रिये तस्मादेव निःसृतम् अतः महद्भयमतिभयानकमुद्यतं घाताय क्रियमाण प्रतीक्षं तादृशं ये विदुः जानन्ति ते अमृताः भवन्ति मरणधर्मविमुक्ताः भवन्ति ।

व्याख्यानमेतत् प्राचीनानुरोधेन, वयं तु प्रथमान्तं पदत्रयमप्युत्तरार्धगतं जगतो विशेषणं मन्यामहे। एवमेजति प्राणे यत्किञ्च जगत्सर्वं तस्मादेव निःसृतं किन्तु उद्यतं वज्रमिव, इन्द्रपाणौ हि वज्रमिन्द्रो हि कर्मणां देवता तथा कर्मेन्द्रशस्त्रभूतं वज्रमिव जगत् महद्भयं महतां सज्जनानां भयं यस्मात् तथा भूतमेवं विज्ञाय भगवत्कृपया संसारादुपरम्य मनीषिणः भगवन्तं प्रपद्यन्ते इति मन्त्रार्थः । यत्तु महद्भयमिति ब्रह्मपरतया व्याचक्षते भगवत्पादशंकराचार्यचरणाः तदसंगतं श्रुतिविरूद्धत्वात् । तथा चाह श्रुतिः—

अभयं निर्जरं ब्रह्म द्वितीयाद्वै भयं भवति, अहो अद्वितीयेऽभये ब्रह्मणि कुतो भयम् । तस्मान्मदुक्तपन्था एव ज्यायान् ।

ननु कथं तर्हि भयादस्याग्निस्तपति इत्यादि ? इतिचेच्छृणु–अत्र भयमनुशासनिकं ते तत्राग्न्यादयः भयं मन्यन्ताम्, वस्तुतस्तु परमात्मा भयहेतुर्नास्ति, अतस्तत्र भयहेतुत्वाभावे **भीत्रार्थानाम् भयहेतुः**, इतिपाणिनीयसूत्रेण भयादस्मादिति पंचमी नावोचत्, अथ च भयमत्रौपचारिकं न तु वज्रमिवोद्यतमिति समाधीयताम् ।।श्रीः।।

अथ तस्य भयं काञ्छारिस्त इत्यपेक्षायामाह–

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।३।।

यद्यपि परमात्मनि भयं नास्ति न वा सः भय हेतुः, तथापि देवान् स्वे-स्वे कार्ये नियोक्तुं फूत्कारकार्यहिंसकसर्पवत् भयं विडम्बयति। अस्य परमेश्वरस्य भयात् दण्डभयात् अग्निः तपति दाहकतां न जहाति नो चेत् स्वच्छन्दः सन् शीतलः स्यात्, एवं सूर्योऽपि दण्डभयादेव तपति तापं न मुञ्चति, एवमेवेन्द्रो भयाद्वर्षति, वायुश्च भयाद्वाति, एषु पञ्चमः अग्निवायुसूर्येन्द्रमृत्यूना मन्तिमः एषु पञ्चमत्वपूरणः यद्वा पञ्चापि महाभूतानि मारयतीति पञ्चमः मृत्युरपि मदभिन्नः धावति भयादेव निस्प्रमतः चरति ।।श्रीः।।

अधुना ब्रह्मबोधस्यावश्यकतां तदबोधे च विपरीतप्रतिक्रियां विवृणोति—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।।४।।

इदं ब्रह्मज्ञानं शरीरेऽस्मिन्नैवावश्यकं, चेत् यदि शरीरस्य प्रारब्धप्राप्तस्य क्षणभंगुरस्य विस्रसः विस्रंसनं विस्रक् तस्मात् पतनात् प्रागेव इह तस्मिन्नेव देहे बोद्धुं ब्रह्मज्ञातुं अशकत्, तदा ततः भगवतः परमप्रियः नो चेत् सर्गेषु सृज्यन्ते कर्मफलैरिति सर्गाः कर्मफलनिर्मिताः इत्यर्थः । तेषु सर्गेषु लोकेषु चतुर्दशसु शरीरत्वाय शरीरभावाय

कल्पते ब्रह्मज्ञानव्यतिरेके संसरणशीलो भवतीति भावः । वस्तुतस्तु व्याख्यानमेतत् प्राचीनानुरोधेन कृतमपि न मां संतोषयति । शब्दप्रमाणकाः वयं शब्दानुसारमेव विचारयामः । पूर्वार्द्धेऽपि एकं वाक्यं, शेषं शरीरपतनात्पूर्वं ब्रह्मज्ञानं ज़ातं चेत् वरमित्यर्थपूरणाय अध्याहारः पुनः ब्रह्मज्ञानाभावपरिणामसूचकोऽपि अन्यथेति शब्दोऽप्यध्याहार्यः भविष्यति, तस्मात् निरर्थकवाक्यशेषद्वयाध्याहारकल्पनापेक्षया उत्तरार्द्धे किमपि विलक्षणं व्याख्यायते। तथाहि–शरीरस्य विस्रसः प्राक् इह अस्मिन् देह एव बोद्धुमशकत् ब्रह्मेति शेषः, ततः तदनन्तरम् किं भवति इत्यत आह–सर्गेषु, सृज् धातुः प्रतियत्नार्थः प्रतियत्नं नाम गुणाधानम्, एवं सृज्यन्ते भक्ताः परमात्मासेवोपयोगि गुणैर्युज्यन्ते इति सर्गाः गुणाधायकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु वैकुण्ठगोलोकसाकेतेषु, शरीरत्वाय शरीरभावाय भगवत्कैरङ्कर्योपयोगिदिव्यशरीरधर्मायेति भावः, कल्पते योग्यो भवति । इह परमात्मानं विज्ञाय पश्चात् दिव्यशरीरेण परमात्मसामीप्यभाग् भवतीतिभावः ।।श्रीः।।

अथ इहैव कथं ब्रह्मज्ञातव्यमिति विधीयते, लोकान्तरेष्वपि ज्ञातुं शक्यते इति शङ्कां परिहरन् प्राह–

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ।।५।।

यद्यपि लोकान्तरेष्वपि ब्रह्म दृश्यते किन्तु यथा निर्मल आदर्शे प्रतिमुखश्रीः स्पष्टं विलोक्यते तथैव आत्मनि मनोदर्पणे अग्रया बुद्ध्या सुस्पष्टं विलोक्यते, यथा च स्वप्ने संसारप्रपञ्चः अस्पष्टं विलोक्यते तथैव पितृलोके गतेनापि साधकेन ब्रह्मापि अस्पष्टं विलोक्यते, पुनर्जागरणे तस्य बाधः । एवं यथा अप्सु जलेषु परि उपरि तादृशे इव चञ्चलतया दृश्यते तथैव गन्धर्वलोके अप्सरोविलासचकितीकृतचञ्चलचेतस्तया लोलमिव भासते न तु स्थिरम्, एवं ब्रह्मलोके छाया प्रतिबिम्बमातपः सूर्यः तयोरिव ब्रह्मलोके द्वयोः जीवब्रह्मणोः सुस्पष्टं पार्थक्यम् अनुगम्यानुगन्तृभावः । एवं यद्यपि ब्रह्मलोके सुस्पष्टदर्शनं तथापि तद्दुराराध्यं तस्मादिहैव ब्रह्म बोद्धव्यमिति हार्दम् ।।श्रीः।।

एवं ब्रह्मणीन्द्रियाणामध्यारोपं निरश्यन्नाह–

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ।।६।।

प्रायशः नीरक्षीरमिव शरीरात्मनोरेकीभवनात् पृथक्कर्तुं न क्षमते प्रकृतो जनः तस्माच्छरीरेन्द्रियार्थमनोबुद्धिसंघातमपि । अहमस्मीति मन्यमानः शोकसागरे निमज्जति ।

धीरः मराल इव शरीरात्मनोः पार्थक्यकरणविदग्धः पृथक्, स्वभावगतपार्थक्येन उत्पद्यमानानां संजायमानानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनाम् पृथग्भावं प्रत्यगात्मनः पृथगस्मितत्वञ्च, उदयास्तमयौ उदयः जाग्रदस्थायां निजनिजकार्यप्रवृत्तिः अस्तमयः सुषुप्तिकाले स्वविषयेभ्यो विरामः। इदं सर्वं जीवात्मनः पृथग्मत्वा, अहं नास्मि शरीरमहं नास्मि इन्द्रियगणः, नाहं मनोमनीषे, अहमस्मि विशुद्धचैन्यघनो जीवात्मा भगवदीय इति मत्वा शोकसागरं तरति। अधुना मन्त्रद्वयेन परमात्मन इन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मपरत्वं निदर्शयन् तज्ज्ञातुं नचिकेतसं प्रेरयति—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥

केचन, शरीरमेव परमात्मबुद्ध्या सेवन्ते, केचन मनः, केचन बुद्धिं, केचनात्मानमेव परमात्माभिन्नं मुधा मन्वानाः प्रलपन्ति, किन्तु आत्मा परमात्मतः न केवलं पृथक्सत्ताकः प्रत्युत् तयोर्मध्ये अव्यक्तमप्येकम्। आशयोऽयं यत् न केवलं जीवात्मपरमात्मनोर्भेद एव परस्परं प्रत्युत व्यवधानसहकृतोऽपि इत्यनेन अभेदवादिनो निराकृताः। तथाहि इन्द्रियेभ्यः मनः परं श्रेष्ठं, मनसः सत्त्वं शुद्धसत्वप्रधानतया बुद्धिरेव तन्नामभाक्, बुद्धेः अपि महान् आत्मा जीवात्मा परः, महतः प्रत्यगात्मा अव्यक्तं परमेश्वरयोगमाया उत्तमं श्रेष्ठम्, अव्यक्तात्तुशब्दोऽप्यर्थः पुरूषः परमपुरूषपरमात्मा परः श्रेष्ठः, सच व्यापकः। एतदपेक्षया सर्वे व्याप्याः, अयमलिङ्गः लिङ्ग्यते बोध्यते इति लिङ्गं नास्ति लिङ्गं यस्मिन् सोऽलिङ्गः। अयं सर्वेभ्यः परिभूतत्वात् न केनापि बोधयितुं शक्य इति भावः। यद्वा नास्ति लिङ्गं सूक्ष्मशरीरं यस्मिन् सोऽलिङ्गः, इन्द्रियादिम्यः परीभूतत्वात् जन्तुः जीवात्ममायं परमात्मानं ज्ञात्वा आत्मीयत्वेन निश्चित्य मुच्यते भववन्धनादिति शेषः। स च मृतत्वं मरणधर्मः तन्नास्ति यस्मिन्तादृशम् अमृतत्वं भगवतः परमधाम साकेतादिकं गच्छति प्राप्नोति ॥श्रीः॥

अधुना एतस्य सामान्यजनानां प्रत्यक्षगोचरतां निराकरोति—

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥

अस्य परमात्मनः रूपमनुभवात्मकं, संदृशे सामान्यजनस्य नेत्रविषये न तिष्ठति, तर्हि वयमेव तं दृग्विषयं कुर्याम् अत आह—कश्चन यतमानोऽपि एनं परमेश्वरं चक्षुषा नेत्रेण न पश्यति । तर्हि कथं ज्ञायते ? अयं तु पूर्वं हृदा भक्तिपूरितहृदयेन स्मृतः पश्चात् मनीषा बुद्ध्या, अत्र सुपां सुलुगित्यनेन मनीषयेति तृतीयाविभक्तिलोपः तस्मात् मनीषा इति । बुद्ध्या निश्चितः अनन्तरम् मनसा अभिक्लृप्तः चिन्तितः, मनःशब्दोऽत्र चेतसि वर्तते हृच्छब्दश्च मनः पर्यायवायी । एवं हृदा स्वान्तेन संकल्पितः, मनीषया निश्चितः, चेतसः चिन्तितः स पुरूषस्त्रितापमपहन्तीति हार्दम् । ये साधकाः एतत् पूर्वोक्तब्रह्मसाक्षात्कारप्रकारं विदुः जानन्ति ते अमृताः भवन्ति मरणधर्मशरीरं विहाय भगवत् कैङ्कर्योपयोगिदिव्यशरीरं लब्ध्वा श्रीरामाभिधं ब्रह्म परस्मिन् साकेतधाम सेवन्ते ।।श्रीः।।

अधुना सकलशास्त्रमयत्वाच्छ्रुतीनां योग्यसम्मतां गतिं परिभाषते द्वाम्यां मन्त्राभ्याम्—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।१०।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।।११।।

यदा यस्मिन् काले पञ्चज्ञानानि चक्षुश्श्रोत्ररसनात्वग्घ्राणानि अवतिष्ठन्ते स्वव्यापारेम्य उपरमन्ति च बुद्धिर्न विचेष्टति निरध्यवसायः भवति तामेव परमां गतिं आहुः कथयन्ति वेदान्तविदः । अपरे योगिनस्तु स्थिरामिन्द्रियधारणाम् इन्द्रियाणां व्यापारशून्यताम् योगमिति मन्यन्ते । वियोगे ततः इन्द्रियबुद्धिचेष्टासमाप्तौ अप्रमत्तः साधकः प्रमादशून्यो भवति, हि यतः योगः बुद्धीन्द्रियव्यापारशून्यतारूपः प्रभवः भगवत्साक्षात्कारयोग्यतायाः जनकः, अत्ययः भगवद्दर्शनप्रत्यवायविनाशकः तौ प्रभवाप्ययौ भवति ।।श्रीः।।

अधुना आस्तिकमतं मण्डयन् पूर्वं ब्रह्मणि अस्तीति विश्वासभूमिकां काक्वा समर्थयते—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।।१२।।

सः परमेश्वरः नैव वाचा वागुपलक्षितकर्मेन्द्रियैः नैव प्राप्तुं शक्यः, एवं मनसा उपलक्षणतया मनोबुद्धिचित्तैः नैव प्राप्तुं शक्यः । ननूपलक्षणे कथं नाहंकारस्य ग्रहणम् ? तस्य भगवत्साक्षात्कारेऽनुपयोगात् । तथा चक्षुषा चक्षुरुपलक्षितज्ञानेन्द्रियैः नैव प्राप्तुं

शक्य: सर्वत: सूक्ष्मतरत्वात् । अतएव अस्तीति ब्रुवत: ईश्वर: अस्ति इति कथयत: अर्थात् अस्तिकपक्षे विश्वासं कुर्वत: । अन्यत्र नास्तिकविचारेषु तत्कथमुपलभ्यते कथं प्राप्तुं शक्यते ? तात्पर्यमेतत् यत्—परमेश्वर: इन्द्रियमनोबुद्धिविलक्षणत्वात् तेषां पुरूषार्थेन प्राप्तुं शक्यते नहि, किन्तु यदि कोऽपि अस्तीति ब्रुवाण: विश्वसं यतते तर्हि तेनैव निजकृपया प्राप्तुं शक्यते । अर्थात् भगवत्साक्षात्कारे विश्वासपूर्वकव्याकुलीभाव एव कारणम् । अथवा स्वकीयैरिन्द्रियमनोबुद्धिचेतोभि: प्राप्तुं न शक्यते किन्तु य: अस्तीति ब्रुवन् महात्मा तत्कृपापात्रतां गत: तेन सेवमानेन लब्धुं शक्य:, ततोऽन्यत्र तु सम्भावनैव नहि । श्री ।

इदानीं परमात्मप्राप्तौ श्रद्धासाधनज्ञानयोरनिवार्यतां वर्णयति—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयो: ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव: प्रसीदति ।।१३।।

पूर्वं कमपि तर्कमन्तरेण परमात्मा अस्ति इति विश्वस्य उपलब्धव्य: भक्त्या उपलब्धिविषय: करणीय:, पश्चात् तत्त्वभावेन उपलब्धव्य: ज्ञानेनापि विचारणीय: **भक्त्या मामभिजानति यावान् यश्चास्मि तत्वत:** इति स्मृते: । गीता १८/५५ । इत्थमुभयोरपि अस्ति इति विश्वस्य भक्त्या उपलब्धस्य साक्षात्कृतस्य, अत्र उपलब्ध: अस्ति अस्मिन् इति उपलब्ध: तस्य उपलब्धस्य इत्यर्श आदित्वात् अच् । तत्त्वभाव: प्रसीदति हृदये स्पष्टं भासते । ब्रह्मणो द्वे रूपे सगुणं निर्गुणं चेति सगुणरूपप्राप्तये पूर्वार्द्ध स तु श्रद्धापूर्वकं भक्त्यैव लभ्यते, निर्गुणरूपं च तत्वभावेन किन्तु सगुणमन्तरेण नहि ।। श्री ।।

ब्रह्म कदा प्राप्यते इत्यत आह–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता: ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।१४।।

यदा यस्मिन् काले, अस्य हृदि श्रिता: साधकस्य मनसि स्थिता:, सर्वे कामा: संकल्पजा: प्रमुच्यन्ते विलीयन्ते, अथ कामसमाप्त्यनन्तरं मर्त्य: मरणधर्मा अमृतो भवति जन्ममरणरहित: सन्, अत्र अस्मिन्नेव शरीरे ब्रह्म श्रीरामकृष्णान्यतरम् समश्नुते आस्वादयति मिथिलापुरवासिन इव गोपिका इव च ।।श्री:।।

अधुनानुशासनमुपसंहरन् ग्रन्थिभेदं चर्चयति–

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय: ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येताबद्ध्यनुशासनम् ।।१५।।

यदा यस्मिन् काले अस्य साधकस्य इह अस्मिन्नेव लोके, सर्वे ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते भग्नाः भवन्ति, अथ अनन्तरं मर्त्यः मनुष्यः अमृतो भवति जीवन्मुक्तो भूत्वा भगवत् कैंकर्यं कुरूते, हि निश्चयेन एतावत् एतन्मात्रमेव ग्रन्थिभेदनिरूपणमनुशासनमुपदेशः त्वादृशे शिष्याय ।।श्रीः।।

इदानीं परलोकप्रयाणसहायभूतानां नाडीनाम् वैलक्षण्यं निरूपयति—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।।१६।।

हृदयस्य शतं एका एकाधिकशतं नाड्यः भवन्ति । तासामेका सुषुम्ना नाम्नी मूर्धानम् अभिनिःसृता उर आरम्य मस्तकं गता । तया सुषुम्नया ऊर्ध्वम् आयन् अत्यक्त- शरीरः परलोकं गच्छन् अमृतत्वं ब्रह्म एति प्राप्नोति । अन्याः शतसंख्याकाः विश्वं सर्वतः उत्क्रमणे गमने सहायिकाः भवन्ति । सुषुम्नेव परलोकं नयतीति भावः ।।श्रीः।।

अधुना ग्रन्थमुपसंहरन् महता समादरेण ब्रह्म समभ्यसति—

अंगुष्ठमात्रः पुरूषोऽन्तरात्मा,

सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण

तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ।।१७।।

अन्तरात्मा अन्तर्यामी पुरुषः परमेश्वरः अंगुष्टमात्रः तत्प्रमाणकः जनानां हृदये अन्तःकरणे सदा सन्निविष्टः विराजते, किन्तु यथा नीरे गतं क्षीरं न पृथक् कर्त्तुं शक्यते तथैवायमपि शरीरधर्माभिभूतः । भगमिव धैर्येण सात्विकधृत्या स्वात् शरीरात् निजशरीरधर्मात् प्रबृहेत् पृथक् कुर्यात् । तं शुक्रममृतं शुद्धममृतं मरणादिविकाररहितं विद्यात् जानीयात् अभ्यासाय द्विरुक्तिः, इति शब्द उपदेशविश्रामसूचकः ।।श्रीः।।

अथ रोचनाय फलश्रुतिं प्रतिश्रृणोति—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।

ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।।१८।।

अथ यमोपदेशानन्तरं नचिकेता मृत्युना यमेन प्रोक्तां कथितामेतां वेदान्तमयीं विद्यां ब्रह्मविद्यां च तथा सम्पूर्णं योगविधिं योगसाधनञ्च लब्ध्वा विमृत्युः मरणरहितः, विरजः रजोमयसंसारवासनारहितः, ब्रह्मप्राप्तः ब्रह्म वेदान्तवेद्यं प्राप्तं लब्धं येन तथाभूतः

कृतभगवत्साक्षात्कार इत्यर्थः अभूत् अभवत्, न केवलं नचिकेता प्रत्युत् यः अन्यः कोऽपि साधकः अध्यात्मं ब्रह्मज्ञानं ज्ञातवन् सोऽपि एवं जन्ममरणरहितः ब्रह्मप्राप्तो भविष्यति । श्रीः ।।

हे राघव महेश्वास राम राजीवलोचन ।
मम प्रार्थयमानस्य भव लोचनगोचरः ।।

श्री राघवकृपाभाष्यं श्रीराघवमुदे मया ।
आचार्यरामभद्रेण कठोपनिषदः कृतम् ।।

इति श्रीचित्रकूटनिवासिसर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठधीश्वरश्रीमद्जगद्गुरुरामानन्दाचार्य
श्रीरामभद्राचार्य कृतौ कठोपनिषदः श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम् ।

।।श्री राघवः शन्तनोतु।।

●

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

कठोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

श्री कठोपनिषद्

का पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-

कवितार्किकचूडामणि वाचस्पति-

श्री जगद्गुरुरामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य-

प्रणीत श्रीमज्जगद्गुरुरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि

विशिष्टा-द्वैतसिद्धान्त-प्रतिपादक श्रीराघवकृपाभाष्य ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

कठोपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

।। मङ्गलाचरणम् ।।

जयति जनसुखापो भानुकोटिप्रतापः,
करधृतशरचापो भग्नभक्तत्रितापः ।
दशरथयुवराजः सच्चकोरोडुराजो,
जलदरुचिररामो ब्रह्म सीताभिरामः ।।१।।

तं चिन्तये चिन्तकपारिजात-
चिन्तामणिं चिन्मयमद्वितीयम् ।
कौशल्यया चुम्बितपङ्कजास्यम्,
रामं शिशुं राघवमब्जनेत्रम् ।।२।।

नमो वैवस्वतायास्मै, धर्माचार्याय धीमते,
यश्चात्मविद्यया बन्धान्नचिकेतसमूमुचत् ।।३।।

सुशीला यं देवी भरतमनघं स्वीयजठरे,
दधौ दध्यौ जग्यौ जगदिदमशेषं हरितनुम् ।
य एको ह्याचार्यो गुरुरमितबोधस्त्रिजगतां
बुधो रामानन्दो जयति जगतीभूषणमलम् ।।४।।

नत्वा श्रीहुलसीपवित्रजठरक्षीराब्धिजन्यं विधुम्,
विघ्नध्वान्तमहान्धकारदलने चण्डांशुमूर्जस्विनम्।
सीतारामपदाम्बुजातविलसद्रोलम्बडिम्भं कविं,
भाषे भाष्यमहं कठोपनिषदः श्रीराघवप्रीतये।।५।।

सुमिरि राम सिय चरण कमल दुख दारिद दूषण,
हृदय राखि श्री तुलसिदास कविवंशविभूषण।।
रामभद्र आचार्य विशिष्टाद्वैत उजागर,
राघवकृपासुभास्य गभीर कठोपनिषद् पर।।
सकलशास्त्रसिद्धान्तमय राष्ट्रगिरा मह भासिहौं,
एहि मिसि श्रीवैष्णवन की चरणरेणु अभिलाषिहौं।।

उपोद्घात– यह तथ्य सभी मेधावी महानुभाव जानते हैं कि— कठोपनिषद् वैदिकसाहित्य की एक अमूल्य धरोहर है। यह कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा में पढ़ी गयी है इसलिए इसे कठोपनिषद् कहते हैं। यम-नचिकेता संवाद के बहाने इसके दो अध्याय और प्रत्येक अध्याय की तीन-तीन वल्लियों में भारतीय अध्यात्मतत्व का गहन चिन्तन किया गया है। हमारे भारतीय ऋषियों ने जो तीन तत्व स्वीकारें हैं, उन्हें क्रम से अनात्मतत्व, जीवात्मतत्व तथा परमात्मतत्व के नाम से जाना जाता है। यह सारा जगत् अनात्मा अर्थात् आत्मा से भिन्न जड़ तत्व है। प्रत्येक शरीर में रहने वाला चेतनतत्व जीवात्मा चित्तत्व है। इन दोनों से विलक्षण है परमात्मा, जिन्हें हम श्रीराम कृष्ण आदि नामों से जानते हैं। संक्षेप में जगत् को अनात्मा, जीव को प्रत्यगात्मा तथा जगदीश को परमात्मा कहते हैं। यही जीव-जगत्-जगदीश तीन महास्तम्भ हैं भारतीय दर्शन के। जीव को चित्, जगत् को अचित् और जगदीश को इन दोनों से विशिष्ट अद्वैत भी कहा जाता है। यही है हमारा सार्वभौम विशिष्टाद्वैतवेदान्तसिद्धान्त। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त में जीव और जगत् (चित्-अचित्) जगदीश के विशेषण तथा शरीर हैं और जगदीश हैं इन दोनों के शरीरी। "जगत् सर्वं शरीरं ते" (वाल्मीकि रा० ६-११७-२७) यस्य आत्मा शरीरं (बृहदारण्यक ३-३-२३) स्मृति और श्रुति वचन इस तथ्य में प्रमाण हैं। कठोपनिषद् में प्रयुक्त आत्मशब्द के सम्बन्ध में आचार्य एकमत नहीं हैं। जहाँ आचार्य शंकर आत्मशब्द को प्रत्यगात्माभिन्नचेतन का

वाचक मानते हैं वहीं नैयायिक आत्मा को द्रव्य मानकर उसे जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का ही बोधक स्वीकारते हैं। हम जगद्‌गुरु श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य के अनुयायी श्रीवैष्णव कठोपनिषद् में वर्णित आत्मतत्व को परमात्मा श्रीराम के अर्थ में ही स्वीकारते हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि— श्रीरामानन्ददर्शन में जीवात्मा और परमात्मा के बीच स्वरूप से भेद और सम्बन्ध से अभेद स्वीकारा गया है और यही तीन जीवात्मा, परमात्मा तथा उनका सम्बन्ध हमारे लिए ज्ञेय है। इन्हीं में अर्थ पंचक गतार्थ होता है। ये तीनों ही नित्य हैं। जीवात्मा 'जीवभूत: सनातन:' (गीता-१५-७) सम्बन्ध 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (पात० महा०-१) यहाँ सिद्ध शब्द नित्य का पर्याय है ॥ श्री ॥

प्रश्न- इन तीनों के ज्ञेयत्व में क्या प्रमाण हैं ?

उत्तर– श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य के प्रशिष्य श्रीगोस्वामी तुलसीदास का वचन ही हमारा सम्प्रदायाचार्यसम्मत प्रमाण है। जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी दोहावली में कहते हैं—

हम लखि लखहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखहिं, रामनाम जपु नीच ॥

—(दोहावली-१९)

यहाँ हम शब्द से जीवात्मा, हमार से परमात्मा तथा बीच से सम्बन्ध का संकेत करके गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं— हे नीच! पहले हम अर्थात् जीवात्मा को, पश्चात् परमात्मा को देखो अनन्तर जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध पर विचार करो, जो अलख है उसे क्या देखता है। रे नीच! रामनाम का जाप कर। इस प्रकार उन्हीं तीन तत्वों पर कठोपनिषद् में गम्भीर विचार किये गये हैं। इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य लिखें हैं। मैं भी श्रीरामानन्दीवैष्णवसम्मत विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त के अनुसार श्रीराघवकृपा के बल से श्रीराघवकृपा नामक भाष्य से ही कठोपनिषद् समलङ्कृत करने का प्रयास कर रहा हूँ ॥ श्री ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– सारे संसार के रक्षक भगवान् हम दोनों गुरु-शिष्यों की एक साथ ही विपत्ति से रक्षा करें तथा परमात्मा हम दोनों आचार्य एवं शिष्य का एक साथ ही पालन करें। हम गुरु और शिष्य

साथ-साथ शास्त्र में पराक्रम करें। हम दोनों गुरु और शिष्य का अध्ययन तेजस्वी बने। हम दोनों आचार्य एवं छात्र परस्पर विद्वेष न करें। परमेश्वर की कृपा. से जीवों के आध्ययात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक इन तीनों तापों की शान्ति हो ।। श्री ।।

व्याख्या– प्रथम पद में 'ॐ' कर्ता है। तथा 'नौ' कर्म 'भुनक्तु' पद भुज् धातु लोट्लकार परस्मैपद प्रथमपुरुष में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है पालन करना। जब 'भुज्' धातु में आत्मनेपद होता है तभी उसका भोजन अर्थ होता है। यहाँ स्पष्ट परस्मैपद का प्रयोग है अत: इसका पालन अर्थ निर्विवाद है। महर्षि पाणिनि कहते हैं— भुजोऽनवने (पा०अ० १-३-६३) अर्थात् रक्षण से भिन्न अर्थ में वर्तमान 'भुजधातु' से ही आत्मनेपद प्रत्यय होता है। इस मन्त्र को भोजन के समय ही क्यों पढ़ा जाता है ? यह तथ्य मैं भी नहीं समझ पा रहा हूँ। वस्तुत: 'सह नाववतु' मन्त्र शास्त्रपाठ के आरम्भ में पढ़ना चाहिए। यहाँ पाँच क्रियाओं का प्रयोग करके गुरु-शिष्य समन्वय के लिए पाँच बार ईश्वर से प्रार्थना की गयी है ।। श्री ।।

।। प्रथम अध्याय ।।

।। अथ प्रथम वल्ली ।।

संगति– अब कठोपनिषद् में भगवती श्रुति नचिकेता-यम-संवाद की आख्यायिका प्रस्तुत कर रही हैं। कथा इस प्रकार है— प्राचीन समय में अरुण के पुत्र उद्दालक नामक गौतमगोत्रीय ब्राह्मण ने विश्वजित् यज्ञ में अपना सम्पूर्णधन दान कर दिया। उनके नचिकेता नाम का पुत्र भी था। जब उद्दालक बूढ़ी गायें ब्राह्मणों को दान कर रहे थे तब नचिकेता ने कहा— पिताजी अब मुझे किसे दे रहे हैं ? उसके तीन बार पूँछने पर उद्दालक ने कहा— तुझे मृत्यु को दे रहा हूँ। यह सुनकर ब्रह्मवर्चस्वी बालक सशरीर स्वर्ग गया। संयोग से यमराज वहाँ नहीं थे। नचिकेता तीन दिन बिना खाये पिये उनकी प्रतीक्षा करता रहा। यमराज ने घर लौट कर, ब्राह्मण बालक को तीन दिन तक अपनी प्रतीक्षा करते हुए जान कर प्रायश्चित्त के रूप में उससे तीन वरदान मांगने की प्रार्थना की। नचिकेता ने

प्रथम वरदान में अपने पिता का संतोष, द्वितीय वारदान में स्वर्ग प्राप्ति में सहायक अग्नि विद्या तथा तृतीय वरदान में आत्मतत्वमीमांसा सुनने की इच्छा की। यमराज ने बड़ी ही कुशलता से आत्मतत्व का विवचेन किया। यही प्रथमाध्याय का सारांश है। द्वितीया अध्याय में भी इसी आत्मतत्व के प्राप्ति के साधनों का वर्णन किया गया है। अब प्रथम मन्त्र का सामान्यार्थ देखिये ।। श्री ।।

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ।।१।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ– वाजश्रवा नामक अरुण ऋषि के पुत्र वाजश्रवस् ने स्वर्गप्राप्ति की कामना से अपने द्वारा किये हुए विश्वजित् यज्ञ में अपना सम्पूर्णधन ब्राह्मणों को दे दिया। उनका नचिकेता नाम का एक पुत्र था।। श्री ।।

व्याख्या– वाजश्रवा का पुत्र होने से 'अपत्यार्थ' में 'अण्' प्रत्यय करके उद्दालक को भी वाजश्रवस् कहते हैं। अथवा वाजश्रवस् शब्द यौगिक है। 'वाज' यानि दान में 'श्रव' अर्थात् जिसे यश मिला है वही प्रख्यात दानी वाजश्रवा है। उसी को स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय करके यहाँ वाजश्रवस् कहा गया। वैदिक साहित्य में 'वेदस्' शब्द धन के अर्थ में प्रयुक्त है और इसका पुंलिङ्ग में पाठ है। यहाँ 'सर्ववेदसम्' शब्द का अर्थ है अपनी सम्पूर्ण धनराशि को। 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से 'बभूव' के स्थान पर 'आस' शब्द का प्रयोग हुआ। 'उशन्' शब्द कान्त्यर्थक 'वस्' धातु से शतृ प्रत्यय से बना है। उशन् का अर्थ है स्वर्गफल की कामना करता हुआ।। श्री ।।

संगति– अब अग्रिम घटना का संकेत किया जाता है।। श्री ।।

त ँ्ह कुमार ँ् सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ।।२।।

रा०कृ०भा०सामान्यार्थ– इस प्रकार दक्षिणारूप में बूढ़ी गायों को ब्रह्मणों द्वारा ले जायी जाती हुई देख कर, पञ्चवर्षीय बालक नचिकेता के मन में आस्तिक बुद्धि का प्रवेश हुआ। नचिकेता विचार करने लगे। श्रौत यज्ञ में चार विभाग होते हैं और प्रत्येक में चार-चार यज्वा होते हैं। उनमें प्रथम विभाग में— होता अध्वर्यु-ब्रह्मा-उद्गाता ये चार याज्ञिक होते हैं। द्वितीय विभाग में प्रशास्ता-प्रतिप्रस्थाता-ब्राह्मणाच्छंसी-प्रस्तोता, इसी

प्रकार तृतीय विभाग में अच्छावाक्-नेष्टा-आग्नीध्र और प्रतिहर्ता तथा चतुर्थ विभाग में ग्रावस्तुत-नेता-होता-सुब्रह्मण्य ये चार याज्ञिक होते हैं। इनमें उत्तरोत्तर की दान में न्यूनता रहती है। यदि प्रथम विभाग को सोलह हजार गायें दी गयीं तो द्वितीय को आठ, तृतीय को चार और चतुर्थ को दो हजार गायें दी जायेंगी। इसी क्रम से दक्षिणा में दी गयी बूढ़ी गायों को देख कर, पिता के अधर्मपूर्ण व्यवहार को देख कर नचिकेता को आक्रोश हो गया॥ श्री॥

संगति– अब नचिकेता के विचार का वर्णन करते हैं—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता ने स्वयं विचार किया— जिन्होंने अन्तिम बार जल पिया है, तथा जो अब घास खाने में असमर्थ हैं, जिनका सम्पूर्णरूप से दोहन कर लिया गया है और जो प्रजनन– इन्द्रिय से रहित हो गयी हैं, ऐसी अनुपयोगिनी गायों को ब्राह्मणों के लिए दान करने वाला यजमान अनन्द नामक नरकलोक में जाता है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ वास्तव में वाजश्रवस् ने चारो विभागों को इसी प्रकार गौवें दी थी। पीतोदका प्रथम विभाग को, जग्धतृणा द्वितीय विभाग को, दुग्धदोहा तृतीय विभाग को तथा निरिन्द्रिय गाएँ चतुर्थ विभाग को दी थी। यह मेरी नवीन स्फुरणा है॥ श्री॥

संगति– अब नचिकेता इस क्रूरकर्म से पिता को बचाना चाहते हैं। क्योंकि बूढी गायें देकर पिता नरक में पड़ेंगे अत: पुत्र का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह कुछ भी करके पिता को बचाये॥ श्री॥

स होवाच पितरं तत् कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता ने कहा— हे पिता जी! आप मुझे किसके हाथ में दे रहे हैं? इस प्रकार दो तीन बार पूछने पर पिता ने क्रोध में कहा— तुझे मृत्यु को दे रहा हूँ॥ श्री॥

व्याख्या– नचिकेता का अभिप्राय यह था कि— जिस पुत्र की ममता के कारण आपने ब्राह्मणों को वृद्ध गायों का दान करके बहुत बड़ा अधर्म

कमाया है, उसी मुझ पुत्र को आप किसी को देकर निष्पाप हो जाइये। पिता ने दो-तीन बार टाला फिर बालक का पूर्ववत आग्रह देखकर क्रोध में उसे भी मृत्यु को देने की प्रतिज्ञा कर ली॥ श्री॥

संगति– जब पिता ने यह कहा कि— "तुझे मृत्यु को दे रहा हूँ", तब पितृवत्सल नचिकेता के मन में एक चिन्ता हुयी॥ श्री॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
कि ँ् स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता ने विचार किया कि— मैं अपने पिता के बहुत से पुत्रशिष्यों में प्रथम गिना जाता हूँ। और उनके बहुत से शिष्यों में मैं मध्यम हूँ तो यमराज का आज ऐसा कौन कार्य है जिसे वह मुझे माध्यम बना कर करेंगे॥ श्री॥

व्याख्या– पुत्र और शिष्य उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार से होते हैं। जो बिना कहे ही पिता और गुरु के आदेश का पालन कर लेते हैं वे उत्तम कहलाते हैं जो पिता और गुरु के कहे हुए का पालन करते हैं, वे पुत्र और शिष्य मध्यम होते हैं और जो उक्त तथा अनुक्त किसी भी आदेश का पालन नहीं करते वे अधम होते हैं। नचिकेता का आशय यह है कि— मैं बहुत बार गुरुकल्प पिता जी के बिना कहे हुए आदेश का पालन कर लेता हूँ इसलिए बहुत से शिष्यों में उत्तम कहलाता हूँ और अपने अविवेक के कारण बहुत बार पिता के कहे हुए आदेश का पालन करता हूँ अत; कभी-कभी मैं मध्यम शिष्य भी बन जाता हूँ, परन्तु अधम कभी-भी नहीं बनता, अर्थात् मैं कभी-भी पिताश्री की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। जबकि आज पिता जी मुझे मृत्यु के पास भेज रहे हैं। मैं यमराज का न तो पुत्र हूँ और न ही शिष्य तो आज यमराज मुझसे अपने किस प्रयोजन को सिद्ध कर सकेंगे? यहाँ तो मैं पिताश्री की उत्तम मध्यम में से कोई न कोई सेवा कर लेता हूँ वहाँ क्या करूँगा॥ श्री॥

संगति– फिर भी मैं तुरन्त यमपुर जाऊँगा जिससे अपने पिता का नरक से उद्धार कर सकूँ। इस प्रकार यमपुरी की यात्रा करते हुए नचिकेता अपने पिता से शोकमग्न होकर बोले। क्योंकि उद्दालक के मन में यह कल्पना भी न थी कि उनका पुत्र उनकी आज्ञा का इतने अंशों में पालन करेगा। परन्तु सब कुछ हुआ पिता की कल्पना से ठीक विपरीत। नचिकेता

तुरन्त यमपुरी को चल पड़े। उद्दालक शोकमग्न हो गये। "अरे! मैंने यह क्या कर दिया" तब नचिकेता ने कहा—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता ने कहा— हे पिताश्री! आप अपने पूर्वजों को पीछे मुड़कर देखिये अर्थात् आपसे पहले उत्पन्न हुए गौतम आदि सत्यवादी महर्षियों के चरित्र का चिन्तन कीजिए। यदि आप प्रतिज्ञा छोड़ते हैं तो आपके पूर्वजों का चरित्र लाञ्छित होगा और वे नरक में पड़ेंगे। इसी प्रकार अपने परवर्ती ऋषिवर्ग का विचार कीजिए। यदि आज आप पुत्र-मोहवश अपनी प्रतिज्ञा से मुकर जायेंगे तो आप से शिक्षा लेकर आपके पश्चात् जन्म लेने वाले ऋषिकुमार भी प्रतिज्ञा छोड़ कर झूठ बोलने लगेंगे। पिताश्री यह शरीर तो धान्य और गेहूँ की फसल की भाँति है। जैसे धान्य अपने आप पकता है और फिर उगता है, उसी प्रकार यह शरीर जन्म लेता है फिर मरता है। अतः इसके मोह में आपको प्रतिज्ञा से विचलित होना उचित नहीं होगा।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार नचिकेता के कहने पर पिता ने उन्हें यमलोक जाने की आज्ञा दे दी। वहाँ जाकर नचिकेता ने जब यमराज को नहीं देखा तो उन्हीं के द्वार पर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगे। तीन दिन के पश्चात् अपने घर लौटने पर यमराज की पत्नी ने उनकी प्रतीक्षा करते हुए ब्राह्मण कुमार का समाचार देकर यमराज को सावधान किया।। श्री ।।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैता ँ् शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज की पत्नी ने उनसे कहा— हे सूर्यपुत्र! अग्नि के समान तेजस्वी ब्राह्मण जब अतिथि रूप में किसी गृहस्थ के घर में प्रवेश करता है तब गृहस्थ लोग अर्घ्य-पाद्य-आचमनीय आदि से उसे संतुष्ट करते हैं। जिससे वह अमंगल न कर दे। यह ब्राह्मणकुमार तीन दिन से आपके द्वार पर पड़ा है। अतः अर्घ्यादि के द्वारा ब्राह्मण वटु का सम्मान कीजिए।। श्री ।।

व्याख्या– विश्वे नराः यस्मिन् सः वैश्वानरः जो सम्पूर्ण प्राणी को जला देता है वही अग्नि वैश्वानर है। यहाँ विश्व शब्द का नर शब्द से

बहुव्रीहिसमास करके स्वार्थ में ''अण्'' प्रत्यय वृद्धि तथा 'नरे संज्ञायां' (पा०अ०– ७-३-१२९) सूत्र से दीर्घ करके वैश्वानर शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है। ''ब्रह्मण: अपत्यम् ब्राह्मण: ब्रह्माधीते ब्रह्म वेद इति ब्राह्मण:'' जो ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न होकर ब्रह्मरूप वेद का अध्ययन करता है उसे ब्राह्मण कहते हैं।। श्री ।।

प्रश्न– नचिकेता भी कुमार है। पाणिनि के मत में पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक कुमार शब्द का प्रयोग होता है किन्तु वेदव्यासजी ने पाँच वर्ष की अवस्था को ही कुमार माना है एवं 'विहारै: कौमारै: कौमारं जहतुर्ब्रजे' (भाग० १०-११-५९) भगवान् श्रीकृष्ण ने पाँचवें वर्ष में ही अघासुरवध लीला की थी। 'यत् कौमारे हरिकृतम्' (भाग० १०-११-४१) इसके दो वर्ष पश्चात् सात वर्ष की अवस्था में गोवर्धन उठाया था 'क्वसप्तहायनो बाल:' और भागवत में पंचवर्षीय बालक को ही कुमार कहा गया है। जैसे सनकादि को कुमार कहा जाता है क्योंकि वे सदैव पांच वर्ष की ही अवस्था में रहते हैं। ''वृद्धा दशार्धवयसो' (भाग० ३-१५-२९) इससे सिद्ध हुआ कि अभी नचिकेता की पाँच वर्ष की अवस्था है। क्योंकि श्रुति ने इसी उपनिषद् के दूसरे मन्त्र में कुमारं कह कर नचिकेता को स्वयं पंचवर्षीय सूचित किया है। जबकि ब्राह्मण बालक का नौवें वर्ष में यज्ञोपवीत होता है। ''अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपयेत्'' अर्थात् आठवां वर्ष पूर्ण होने पर ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत करना चाहिए। अभी नचिकेता की अवस्था पाँच वर्ष की है। जब उन्हें यज्ञोपवीत का अधिकार ही नहीं प्राप्त है तो फिर उनके साथ यमराज ब्राह्मण वटु जैसा व्यवहार क्यों कर रहे हैं ?

उत्तर– 'ब्राह्मण का आठवां वर्ष पूर्ण होने पर यज्ञोपवीत करना चाहिए' यह सामान्य वाक्य है। इसका बाधक एक विशेष वाक्य भी है कि 'यदि कोई ब्राह्मण आपने पुत्र को ब्रह्मवर्चस्वी बनाना चाहता हो गर्भ से पाँचवें वर्ष में ही यज्ञोपवीत कर देना चाहिए और क्षत्रिय पुत्र को बलवान बनाने के लिए छठें वर्ष ही यज्ञोपवीत कर दें।' इसीलिए भगवान् राम का यज्ञोपवीत छठें वर्ष हुआ। यथा–

भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन जनेऊ गुरु पितु माता।।

—(मानस १-२०४-३)

अर्थात् भगवान् राम ने अपना पांचवां वर्ष पूर्ण कर लिया तब गुरु-पिता-माता ने उन्हें जनेऊ दिया। इसी प्रकार उद्दालक ने ब्रह्मवर्चस्वी बनाने के लिए ही नचिकेता को पाचवें वर्ष में ही यज्ञोपवीत दे दिया था। अब कुमार पाँचवां वर्ष पूर्ण कर चुके हैं और वटु वेश में वेदाध्ययन में प्रवृत्त हैं। इसलिए यमराज ने उनसे ब्राह्मण वटु जैसा उचित व्यवहार किया। यहाँ यमपत्नी उनके निकट जाकर ब्राह्मणवटु के सम्मान के लिए प्रार्थना कर रही थी। इसलिए दूर से सम्बोधन न होने के कारण प्लुत नहीं हुआ और गुण सन्धि हो गयी 'वैवस्वतोदकम्' ॥ श्री ॥

संगति– यमपत्नी वही बात अगले मन्त्र में कह रही हैं ॥ श्री ॥

आशाप्रतीक्षे संगत ँ् सूनृतां
च इष्टापूर्ते पुत्रपशू ँ्श्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब यमपत्नी छः वस्तुओं का भय दिखलाकर कहती हैं– जिस कुबुद्धिशाली पुरुष के घर में बिना भोजन किये ब्राह्मण निवास करता है, वह उसकी शुभकामनाएँ, प्राप्तव्यवस्तु, प्राप्तलक्ष्मी, सत्यवाणी, इष्टापूर्त एवं पुत्र-पशुओं को नष्ट कर देता है ॥ श्री ॥

व्याख्या– आशा शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ वस्तुओं की कामना। जिस वस्तु को हमें पाने की प्रतीक्षा हो वही यहाँ प्रतीक्षा शब्द से कही गयी हैं ॥ श्री ॥

संगति– इस प्रकार पत्नी की प्रेरणा से नचिकेता का षोडशोपचार पूजन करके, तीन रात्रि पर्यन्त अपने द्वार पर बिना अन्न के पड़े हुए नचिकेता का क्रोध शान्त करने के लिए और अपने व्यतिक्रम का प्रायश्चित्त करने के लिये यमराज नचिकेता से बोले—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीगृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात् प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे ब्राह्मण कुमार! तुम तीन रात्रि पर्यन्त बिना कुछ खाये-पिये मेरे घर में खड़े रहे। तुम मेरे लिए वन्दनीय हो। हे

ब्राह्मण वटो ! तुम्हें नमस्कार हो और तुम्हारे द्वारा मेरा कल्याण हो। प्रत्येक रात्रि निवास के बदले में तुम मुझ से तीन वरदान माँग लो॥ श्री॥

व्याख्या– 'रात्रीः' शब्द में अत्यन्त योग में द्वितीया है 'नमस्ते' 'स्वस्ति' 'मे' शब्दों में 'नमः स्वस्ति' आदि सूत्र से चतुर्थी हुई॥ श्री॥

संगति– अब नचिकेता अपना प्रथम वरदान माँगते हैं॥ श्री॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे प्राणियों के मृत्युदाता यमराज! जिस प्रकार आपके द्वारा भेजा गया मुझे देख कर, गौतम वंशज मेरे पिताश्री विश्वास कर लें और उनका स्वर्गप्राप्ति आदि लौकिक संकल्पों का समूह शान्त हो जाय तथा क्रोध छोड़ कर वे प्रसन्न होकर मुझ से वार्तालाप करें, आप वैसा ही कीजिए। आप द्वारा दिये हुए तीनों वरदानों में यही पितृपरितोषरूप प्रथम वरदान मैं माँग रहा हूँ॥ श्री॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां
ददृशिवान्मृत्युमुखात् प्रमुक्तम्॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्रथम वरदान की स्वीकृति देते हुए यमराज कहते हैं कि— जिस प्रकार तुम्हारे पिता उद्दालक मेरी प्रेरणा से मृत्यु के मुख से मुक्त तुम्हें देखकर क्रोध रहित होकर शीघ्र ही अनेक रात्रियों में सुख की नींद सोयें, मैं वैसा ही करूँगा। अथवा इस मंत्र की एक और व्याख्या की जा सकती है कि— यहाँ औद्दालकी और आरुणि ये दोनों ही नचिकेता के विशेषण होंगे। हे अरुण के गोत्र में उत्पन्न उद्दालक पुत्र नचिकेता! आप बहुत ही शीघ्र मेरे द्वारा फिर मृत्युलोक में भेज दिये जायेंगे और आपके पिता आपको मृत्यु के मुख से छूटकर आया हुआ देखेंगे, तथा वे विश्वासपूर्वक बहुत सी रात्रियों में सुख से शयन करेंगे। मैं वैसा ही करूँगा। यहाँ 'पुरस्ताद्' शब्द शीघ्रता का वाचक है॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार यमराज से पितृपरितोष का प्रथम वरदान प्राप्त कर नचिकेता दूसरे वरदान के लिए प्रार्थना करते हैं॥ श्री॥

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता स्वर्ग की प्रसंशा करते हुए कहते हैं— स्वर्ग लोक में किसी प्रकार का भय नहीं है, वहाँ किसी को मारने के लिए आप (यमराज) भी नहीं जाते। वहाँ जीव वृद्धावस्था से नहीं डरता। भूख और प्यास को समाप्त करके समस्त शोकों से दूर हुआ जीव स्वर्गलोक में आनन्दित होता है।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार स्वर्ग का लक्षण कह कर नचिकेता उसी स्वर्ग प्राप्ति के साधन रूप अग्नि को ही द्वितीय वरदान के रूप में माँग रहे हैं ।। श्री ।।

स त्वमग्नि ँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्व ँ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे मृत्यो ! स्वर्ग के लिए उपयुक्त उस अग्निविद्या को आप भलीभाँति जानते हैं। उसी को आस्तिकबुद्धिसम्पन्न मुझ नचिकेता को बताइये। क्योंकि स्वर्गीय लोग अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। मुझे भी स्वर्गप्राप्ति में साधन अग्निविद्या का उपदेश दीजिए यही मेरा द्वितीय वरदान है।। श्री ।।

व्याख्या– वास्तव में यहाँ स्वर्ग-पद साकेत-वैकुण्ठ-गोलोक के अर्थ में है। इसीलिए पूर्वमन्त्र में नचिकेता ने कहा कि— उस स्वर्ग में आप नहीं हैं। जबकि देवलोक में यमराज हैं और देवताओं को भी मरना पड़ता है। इसीलिए उस भगवद्धाम की प्राप्ति के लिए यमराज से नचिकेता ने अग्निविद्या की प्रार्थना की।। श्री ।।

संगति– अब द्वितीय वरदान की इच्छा से यमराज अग्नि की महिमा कहते हैं।। श्री ।।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता ! जिसका अन्त नहीं होता, ऐसे भगवल्लोक की प्राप्ति का साधन तथा भगवान् की प्राप्ति कराने वाले उस स्वर्गीय अग्नि को ठीक-ठीक जानता हुआ मैं

तुमसे कह रहा हूँ। इसे सावधान होकर सुनो— हे नचिकेता! इस अग्निविद्या को शास्त्र की कन्दरा में छिपी हुई समझो अर्थात् इसे बहुत कम लोग जानते हैं ।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ अनन्तशब्द लोकशब्द का विशेषण है। इस पक्ष में बहुव्रीहि समास होगा। स्वर्गलोक से भी जीव का अन्त होता है परन्तु भगवान् को प्राप्त करके जीव फिर नहीं लौटता। अथवा 'अनन्तस्य लोक: अनन्तलोक: तस्य आप्ति: येन' अर्थात् जिससे भगवान् की प्राप्ति हो ऐसी अग्निविद्या। वस्तुत: भगवान् के वियोग की अनुभूति ही यहाँ अग्निविद्या के नाम से कही गयी है, जो श्री भरत और श्री ब्रजाङ्गनाओं में मूर्त दृष्टिगोचर होती है ।। श्री ।।

संगति– अग्निविद्या के अध्ययन में छात्र की रुचि बढ़ाने के लिए अग्नि की स्तुति करके, अब यमराज नचिकेता को अग्निविद्या का रहस्य बताते हैं ।। श्री ।।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ।।१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– अब यमराज ने नचिकेता को भगवल्लोक प्राप्ति कराने वाली अग्निविद्या का रहस्य बताया। उस अग्नि की वेदिका में जितनी, जितने प्रमाण वाली जैसी इष्टकाओं की आवश्यकता होती है, वह सब बताया। प्रतिभासम्पन्न नचिकेता ने भी यमराज से जो सुना था वैसा ही उन्हें सुना दिया। नचिकेता पर संतुष्ट होकर यमराज ने फिर कहा ।। श्री ।।

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ।।१६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता की प्रतिभा से प्रसन्न होकर यमराज बोले— वत्स! आज बिना माँगे एक और वरदान दे रहा हूँ। आज से यह अग्नि तुम्हारे नाम से ही ख्यात होगी और ये लो अनेक रूपों वाली दिव्य माला उपहार के रूप में। संस्कृत में माला को सृंका भी कहते हैं ।। श्री ।।

संगति– अब अपने द्वारा उपदिष्ट अग्नि का महत्त्व कहते हैं ।। श्री ।।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमा ँ् शान्तिमत्यन्तमेति ।।१७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता! इस नचिकेताग्नि का तीन बार अनुष्ठान करके यजु-ऋक्-साम अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति या इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना अथवा मन, वाणी, शरीर इन तीन प्रकारों से सन्धिरूप साम्य अवस्था को प्राप्त कर, नित्य, नैमित्तिक प्रायश्चित या ज्ञान, वैराग्य, शक्ति या गृहस्थ वानप्रस्थ, ब्रह्मचर्य इन तीन आश्रमों के कर्मों को करके, जन्म-मृत्यु को पार कर, साधक संसार-सागर से तर जाता है। ब्रह्म अर्थात् वेद से ही जिसका जन्म हुआ ऐसे स्तुति करने योग्य परमप्रकाशमान अग्नि को जान कर और इस अग्निविद्या का प्रयोग करके साधक अन्तरहित शान्ति को प्राप्त कर लेता है।। श्री।।

संगति– यमराज अग्निविद्यामाहात्म की फिर प्रसंशा करते हैं।। श्री।।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वा ँ् श्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ।।१८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! इस प्रकार तुम्हारी ही भाँति जो, अग्निविद्या रहस्य को समझता हुआ, इष्टिका स्वरूप, इष्टिकाओं का प्रकार तथा इष्टिकाओं की निर्माण विधि जान कर, तीन बार इस विद्या का अनुष्ठान करके नचिकेताग्नि का चयन करता है, वह शरीर के रहते ही मेरे मृत्युपाशों को नष्ट करके शोक को अतिक्रान्तकर श्री साकेतलोक में परमात्मा के साथ आनन्द करता है।। श्री।।

व्याख्या– 'त्रिणाचिकेत:' 'नचिकेतसे इदं नाचिकेत: त्रिवारं अनुष्ठितो नाचिकतो त्रिणाचिकेत:' यहाँ 'अण्' प्रत्यय, पृषोदरादित्वात् सकार का लोप, मध्यमपदलोपीसमास तथा 'र' वर्ण से परे 'न' का 'ण' हुआ।। श्री।।

संगति– अब अग्निविद्यामाहात्म्य का उपसंहार करते हुए वैवश्वत यमराज तृतीय वरदान माँगने के लिए नचिकेता को प्रेरित करते हैं।। श्री।।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ।।१९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! जिस अग्नि को तुमने द्वितीय वरदान के रूप में माँगा है, वह स्वर्गसोपानरूप यह अग्नि अब तुम्हारा ही

हो गया। लोग इसको तुम्हारे ही सम्बन्ध से नाचिकताग्नि कह कर बोलेंगे। अब शेष तृतीय वरदान भी मांग लो॥ श्री॥

व्याख्या– 'तेऽग्निः' यहाँ षष्ठी सम्बन्ध में है। 'जनासः' जन शब्द के प्रथमाबहुवचन में आज्जसेरसुक् (पा०आ० ७-१-५०) सूत्र से असुक् का आगम हुआ है। लोक में 'जनाः' शब्द का ही प्रयोग होता है॥ श्री॥

संगति– अब नचिकेता तृतीय वरदान के रूप में आत्ममीमांसा की जिज्ञासा करते हैं। यहाँ ध्यान रहे इस औपनिषदि दर्शन में आत्मशब्द जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जहाँ-जहाँ श्रुति ने जीवात्मा से परमात्मा का अभेद कहा है वहाँ उसे सम्बन्धतः जानना चाहिए। श्रुति ने जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्वरूपतः सिद्ध किया है। चार्वाक् आदि के मत में आत्मा की सत्ता नहीं मानी गयी है। उनके मत में तो—

जब तक जिओ संसार में तब तक चकाचक में जियो।
लेकर सदा ऋण दूसरों से दूध घी सुख से पियो॥
यह जन्म मरण विवाद ही दुःख बीज बोता है अहो।
अंगार दग्ध शरीर का पुनरागमन कैसे कहो॥
अंगनालिङ्गनजन्य सुख ही देव दुर्लभ स्वर्ग है।
भू का अकण्टक राज्य पाना वस्तुतः अपवर्ग है॥
जीवात्मसत्ता है नहीं यह पुनर्जन्म नहीं यहाँ।
प्रत्यक्ष राजा ही जगत् में एक ईश्वर है महा॥

वस्तुतः यह चार्वाक् दर्शन, दर्शन ही नहीं है। पुनर्जन्म की सहस्रों घटनाएँ आज भी देखी और सुनी जा रही हैं। यदि पुनर्जन्म न होता तो नवजात शिशु, जसे 'दूध पीने से भूख मिटती है', यह ज्ञान ही नहीं है, दुग्धपान में कैसे प्रवृत्त होता और भय की परिभाषा जाने बिना वह भयंकर आकृति देखकर क्यों डर जाता है? इसलिए नचिकेता ने यमराज के समक्ष दोनों पक्षों का प्रस्थापन किया। यद्यपि नचिकेता नास्तिक नहीं है क्योंकि वह पहले ही 'अनन्दा नाम ते लोका' कहकर स्वर्ग, नरकलोक तथा परलोक की सत्ता स्वीकार चुके हैं। फिर भी यमराज के श्रीमुख से सिद्धान्त सुनने के लिए दोनों पक्षों को उपस्थित करते हैं॥ श्री॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ।।२०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता कहते हैं— हे भगवन्! इस संसार के प्रारम्भ से ही मरने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में मननशील मनुष्य के मन में जो एक संशय उठा करता है, आस्तिक लोग कहते हैं कि— मरणोपरान्त भी आत्मसत्ता रहती है। नास्तिक लोग कहते हैं— आत्मसत्ता नहीं है। मरने के पश्चात् कुछ नहीं रहता। इन दोनों पक्षों में कौन-सा पक्ष श्रेष्ठ है ? यह मैं आप से द्वारा उपदिष्ट होकर जान सकूँगा। यह आत्मोपदेश ही मेरे वरदानों में तृतीय वर है।। श्री।।

व्याख्या– यहाँ 'प्रेते' शब्द में विषयसप्तमी है। और 'मनुष्ये' शब्द में औपश्लेषकी सप्तमी।। श्री।।

संगति– यह प्रश्न बालक के मुख से सुनकर 'ब्रह्मविद्या का उपदेश अधिकारी को देना चहिए अनधिकारी को नहीं।' अत: अधिकारी की परीक्षा करने के लिए इस प्रश्न की जटिलता का वर्णन करते हुए यमराज नचिकेता को विचलित कर रहे हैं।। श्री।।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ।।२१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता! इस आत्मा के सम्बन्ध में तो बहुत पहले देवताओं द्वारा भी संशय किया जा चुका है। यह सरलता से नहीं जाना जा सकता। निवृत्तिनिरत परिव्राजक महात्माओं द्वारा उपदिष्ट हुआ अर्थात् उपदेश का विषय बना हुआ यह धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है। हे नचिकेता! इसे छोड़ कर और दूसरा वरदान माँग लो। इस सम्बन्ध में मुझे विवश मत करो। इसे छोड़ दो-छोड़ दो।। श्री।।

संगति– प्रश्न की जटिलता सुन कर भी नचिकेता विचलित नहीं हुए और दृढ़ता से फिर वही प्रश्न किया।। श्री।।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ।।२२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता ने कहा— हे मृत्यु के नियन्ता यमराज! आपने इस धर्म के सम्बन्ध में दो कठिनाइयाँ बतायी। इसके विषय

में देवताओं ने भी संशय किया था तथा यह सहजता से नहीं जाना जाता। मैं विश्वास करता हूँ कि— इस आत्मधर्म का आप जैसा कोई उपयुक्त वक्ता उपलब्ध नहीं है। अतः इस वरदान जैसा कोई वरदान नहीं है। इसलिए मैं इसका कोई विकल्प नहीं चाहता ॥ श्री ॥

संगति— यमराज फिर नचिकेता को प्रलोभन देना चाहते हैं ॥ श्री ॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥२३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— यमराज ने कहा— हे नचिकेता! इसके विकल्प में सौ वर्ष जीने वाले पुत्र-पौत्रों को मांग लो। बहुत से गौ आदि पशुओं को, हाथी के भार के बराबर स्वर्ण तथा घोड़ों को एवं पृथ्वी का विशाल भू-भाग, पृथ्वी पर सुखपूर्वक जियो। मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध तुम्हारे प्राण नहीं ले जाऊँगा। सब को मारने वाला मैं तुम्हें जीवन दान दे रहा हूँ। हठ मत करो, मुझ से आत्मतत्व मत पूछो ॥ श्री ॥

संगति— यमराज और भी लोभनीय वस्तुओं का प्रलोभन देकर नचिकेता को विचलित करना चाहते हैं ॥ श्री ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वां कामभाजं करोमि ॥२४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे नचिकेता! यदि इसके समान कोई दूसरा वरदान तुम समझते हो तो वह भी मांग लो। ब्राह्मणकुमार! अक्षय धन और चिरकालीन जीविका भी मुझसे माँग लो। इस विशाल भूमि पर सम्राट के रूप में बढ़ो। आज तुम को मैं सभी उत्तमोत्तम अभिलषित पदार्थों का पात्र बनाये देता हूँ ॥ श्री ॥

संगति— यमराज नचिकेता को स्वर्गसुख का भी प्रलोभन देते हैं ॥ श्री ॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामा ँ् श्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥२५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— इस मनुष्यलोक में जो-जो भी दुर्लभ पदार्थ हैं अपनी इच्छा से उन-सब को मांग लो। ये देखो मेरी इच्छा से स्वर्ग से उतरकर आती हुयीं रथादि वाहनों पर विराजमान, तूर्यादिवाद्यों से

सुसज्जित, स्वर्ग की रमणीय अप्सराओं को, जो मरणधर्मा मनुष्य के लिए उपलब्ध नहीं हो सकती। मेरे द्वारा दी हुयीं इन देवनाङ्गनाओं से अपनी सेवा करवाओ। पर हे नचिकेता! मुझसे मरण की उत्तरकालीनदशा मत पूछो तथा 'म' अर्थात् जीव के अरण याने शरणदाता दुर्ज्ञेय आत्मतत्व के सम्बन्ध में मुझसे मत पूछो ॥ श्री ॥

व्याख्या– एकाक्षरी कोष में 'म' जीव का वाचक है तथा अरण शब्द शरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'मस्य अरणं मरणम्' इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष समास करके शकन्ध्वादित्वात् पररूप करके मरणशब्द की सिद्धि होती है। अर्थात् यहाँ मरणं का अर्थ है जीवशरणम् ॥ श्री ॥

संगति– इस प्रकार तीनों प्रलोभनों से प्रलोभित न होते हुए नचिकेता, सभी काम्यपदार्थों को ठुकरा कर, यमराज से आत्मतत्वज्ञान की ही याचना करते हैं ॥ श्री ॥

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥२६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे यमराज! आपके द्वारा देने के लिए गिनाये हुए काम्यपदार्थ, 'श्वोभावा' अर्थात् कल तक ही स्थिर रहेंगे ये क्षण भंगुर हैं। ये सम्पूर्ण इन्द्रियों का तेज समाप्त कर डालते हैं। जीवन भी थोड़ा ही है, क्योंकि आप अमरता तो दे नहीं सकते। इसलिए हे यमराज! ये हाथी, घोड़े आदि वाहन आपके ही पास रहें तथा नृत्यगीत से रिझाने वाली युवतियाँ आपकी ही सेवा में रहें। मैं ब्रह्मचारी हूँ मुझे इनकी कोई आवश्यकता नहीं ॥ श्री ॥

संगति– नचिकेता अगले मंत्र में प्रलोभनों की निःसारता का वर्णन करते हुए आत्मतत्व के श्रवण में ही अपनी निष्ठा प्रदर्शित करते हैं ॥ श्री ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे भगवन्! मनुष्य कभी धन से संतुष्ट नहीं किया जा सकता। वह मननधर्मा होने से लोक परलोक जानता है। अथवा मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं। ज्यों-ज्यों धन आता जाता है त्यों-त्यों उसकी नवीन इच्छाएँ बढ़ती जाती हैं और वह भी हमारे लिए असम्भव नहीं है। हमने आपके दर्शन कर लिए तो हम धन भी प्राप्त कर लेंगे और

जब तक आप यमराज पद पर नियुक्त रहेंगे तब तक हम जीवित भी रहेंगे। क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ। सामान्य गुरु भी शिष्य को चिरंजीव ही कहता है। अत: आप जब तक चाहेंगे तब तक मैं जीवित रहूँगा। इसलिए इन प्रलोभनों से कोई लाभ नहीं, मुझे वही वरदान चाहिए। अर्थात् कृपा करके मुझे आत्मतत्व का श्रवण करायें ॥ श्री ॥

संगति– फिर नचिकेता स्वर्गसुख की निरर्थकता का वर्णन करते हैं ॥ श्री ॥

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे भगवन्! जब मनुष्य का अत्यन्त पूर्णोदय होता है, तब उसे आप जैसे महानुभावों का सत्संग प्राप्त होता है। इस प्रकार मरणधर्म से रहित आपश्री के समान देवताओं का समागम प्राप्त करके पृथ्वी से भी निम्न योनियों में स्थित साधक जीर्ण होता हुआ और इन सब की नश्वरता को जानता हुआ, केवल स्वर्गीयललनाओं के सुन्दर रूप तथा रतिसुख के प्रमोदों का क्षणिक चिन्तन करने हेतु आपके द्वारा दिये हुए विशालजीवनआयु में भी कौन रम सकता है अथवा कोई मन्दभाग्य ही आनन्द का अनुभव कर सकता है। क्योंकि स्वर्गसुख भी नाशवान ही है। एक दिन तो उसका अन्त होगा ही ॥ श्री ॥

संगति– अब नचिकेता आग्रहपूर्वक यमराज से अपने द्वारा अभिलषित आत्मतत्वश्रवण की ही प्रार्थना कर रहे हैं ॥ श्री ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता सानुरोध प्रार्थना करते हैं— हे मृत्यु के नियामक यमराज! जिस आत्मतत्व के विषय में बड़े-बड़े लोग संशय करते रहते हैं, जो महान् शरीरत्याग के सम्बन्ध में दुर्विभाव्य है और आपके कथनानुसार जो आत्मतत्वज्ञानरूप वरदान अत्यन्त गोपनीय है वही आप कृपा करके हमें श्रवण कराइये। नचिकेता इससे अतिरिक्त कोई दूसरा वरदान नहीं माँगता ॥ श्री ॥

॥ इति कठोपनिषद् प्रथम अध्याय में प्रथमवल्ली पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

●

।। अथ द्वितीयवल्ली ।।

कठोपनिषद् की प्रथमवल्ली नचिकेता आख्यान के साथ ब्रह्मविद्या के अधिकारी वर्णन में गतार्थ हुई। वास्तव में ब्रह्मविद्या का वही अधिकारी है जो माता-पिता, आचार्य तथा अतिथि में देवबुद्धि रखता हो। वेदान्त श्रवण की जिसे जिज्ञासा हो तथा जो ब्रह्मज्ञान में दृढ़ निष्ठावान् ब्राह्मण हो। सौभाग्य से नचिकेता में ये सब गुण हैं। स्वयं उनकी यमराज प्रशंसा करते हैं 'नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्' ब्रह्मविद्या के लिए जो कुछ अपेक्षित है, नचिकेता को वह सब कुछ मिला। विशुद्ध ब्रह्मकुल, गौतमवंशीय उद्दालक महर्षि जैसे पिता, यमराज जैसे भागवतधर्माचार्य भगवद्विभूतिस्वरूप प्रशस्त आचार्य। भगवती श्रुति कहती हैं— 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् श्रेष्ठ आचार्य का कृपापात्र पुरुष ही भगवान् को जान सकता है। अब क्या था, कृपाकादम्बिनी बरस पड़ी नचिकेता पर धर्म स्वरूप यमराज की। और यमराज ने नचिकेता को आत्मतत्व का उपदेश करना प्रारम्भ किया।। श्री।।

अन्यच्छ्रेयोन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता! श्रेय एवं प्रेय ये दोनों एक दूसरे से विलक्षण हैं। इन दोनों के प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न हैं। ये दोनों ही पुरुषार्थवादी साधक को बाँधते हैं। अर्थात् अपनी अपनी ओर खींचने का प्रयास करते हैं। इन श्रेय एवं प्रेय मार्गों में से जो प्रेय को छोड़ कर श्रेय का वरण करता है उसका कल्याण होता है और जो निश्चय बुद्धि से प्रेय को वरण करता है वह परमार्थपतित हो जाता है।। श्री।।

व्याख्या– परमार्थ अथवा भगवान् को प्राप्ति के मार्ग को श्रेयस् कहते हैं और बंधन में डालने वाले संसार के मार्ग को प्रेयस् कहते हैं। ये दोनों ही सर्वथा एक दूसरे से अलग-अलग हैं। श्रेय और प्रेय का समन्वय उतना ही कठिन कार्य है जितना कि पूर्वी और पश्चिमी धारा का समन्वय। जैसे पश्चिमवाहिनी नदी का पूर्ववाहिनी नदी से समन्वय नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की दिशा अलग-अलग है, उसी प्रकार प्रेय जीव को संसार की ओर ले जाता है और श्रेय भगवान् की ओर। प्रेय बाँधता है तो श्रेय छोड़ता है। प्रेय अंधकार है तो श्रेय प्रकाश। प्रेय कालकूट है तो श्रेय

अमृत। प्रेय कर्मनाशा है तो श्रेय गंगा। इसलिए इन दोनों के लिए ही श्रुति ने दो बार 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया है। दोनों के प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न हैं। प्रेय का प्रयोजन है बंधन तो श्रेय का प्रयोजन है मोक्ष। एक का प्रयोजन है काम तो दूसरे का राम। परन्तु ये दोनो ही साधक को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयोग करते हैं। संसार कहता है— मेरी ओर आओ, भगवान् कहते हैं— मेरी ओर। नचिकेता ने अन्तर्प्रश्न किया— तो फिर किस ओर जाना ठीक है ? इस पर यमराज कहते हैं— 'तयो: श्रेय:' श्रेय की ओर क्योंकि श्रेय में निरत साधक को प्रेय मिल सकता है परन्तु प्रेय में लगा व्यक्ति श्रेय को कभी नहीं प्राप्त कर सकता। अर्थात् भगवान् के भक्त को संसारिक सुख प्रसादरूप में प्राप्त हो सकते हैं परन्तु संसारी को कंसारि नहीं मिला करते। अर्थात् संसार में लिप्त व्यक्ति भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकता। इसलिए अर्जुन ने प्रेयस् को छोड़ कर श्रेयस् का वरण किया। 'यच्छ्रेय:स्यां निश्चितं ब्रूहि तन्मे' (गीता– २-७) येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् (गीता– ३-२) यच्छ्रेय एतयोरेकम् (गीता– ५-१) ॥ श्री ॥

संगति– यमराज फिर श्रेयस् की प्रशंसा करते हैं—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता ! श्रेयस् और प्रेयस् ये दोनों ही मनुष्य के पास उपस्थित होते हैं और शरीर का सम्यक् त्याग करके या इन्हें भली-भाँति पहचान कर, इन दोनों पर धीरबुद्धि व्यक्ति गम्भीरता से विवेकपूर्वक विचार करता है। किन्तु धीरपुरुष सम्मुख आये हुये प्रेय को छोड़ कर श्रेय का ही वरण कर लेता है और मन्द बुद्धि संसारी व्यक्ति योगक्षोमात्मक संसार के कारण भोग-वासनामात्र प्रेयमार्ग का ही वरण कर लेता है॥ श्री ॥

व्याख्या– 'प्रेयस:' शब्द से ल्यब् लोप पंचमी है। इसका अर्थ है प्रेयस् तिरस्कृत। 'प्रेय का तिरस्कार करके' धीर पुरुष संसार को छोड़कर भगवान् का वरण करता है, क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि 'उसके योगक्षेम का निर्वहण भगवान् करेंगे।' भगवान् स्वयं (गीता– ९-२२) में कहते हैं कि— जो अनन्य भाव से चिन्तन करते हुए मेरा भजन करते हैं मुझ नित्य परमात्मा में संलग्न उन भक्तों के योग तथा क्षेम का मैं स्वयं निर्वहण करता

हूँ। परन्तु मन्द बुद्धि व्यक्ति अपने योगक्षेम की चिन्ता करता रहता है अतः उसकी पूर्ति के लिए वह प्रेयरूप संसार का वरण कर लेता है ॥ श्री ॥

संगति– अब यमराज नचिकेता के त्याग की प्रशंसा करते हैं ॥ श्री ॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपा ँ्श्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैता ँ् सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता ! वस्तुतः तुम ब्रह्मज्ञान के अधिकारी हो। क्योंकि तुमने मधुर परिणाम वाले काम्य पदार्थों को क्षणभङ्गुर जान कर सदा-सदा के लिए छोड़ दिया और प्रचुर धन-धान्य देने वाली इस माला को प्राप्त करके भी तुमने छोड़ दिया, जिसमें बड़े-बड़े लोग मृगतृष्णा करके डूब जाते हैं ॥ श्री ॥

संगति– यमराज फिर नचिकेता के ब्रह्मविद्या की प्रशंसा करके कहते हैं ॥ श्री ॥

दूरमेते विपरीते विसूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः ॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता ! यह बात सर्वविदित है कि— शुभ और अशुभ की सूचना देने वाली विद्या (ब्रह्मविद्या) अविद्या (संसार विद्या) ये दोनों ही एक दूसरी से बहुत भिन्न हैं। क्योंकि विद्या का फल है भगवत्प्राप्ति तथा अविद्या का फल संसार है। हे नचिकेता ! मैं तुम्हें विद्याभीप्सी अर्थात् विद्याप्राप्ति का इच्छुक मानता हूँ। क्योंकि संसार की अनेक कामनाएँ भी तुम्हें लोलुप नहीं बना सकी ॥ श्री ॥

संगति– यमराज नचिकेता को सम्बोधित करके अविद्या की निन्दा करते हैं ॥ श्री ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता ! अविद्या में आकण्ठ डूबे हुए, स्वयं को ही धीर तथा पंडित मानने वाले मूर्ख लोग, विषयों के द्वारा बार-बार पचाये जाते हुए उसी प्रकार रौरव नरक में पड़ जाते हैं, जैसे अन्धे के द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धे जन ॥ श्री ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।।६।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! जिसने वेदादिशास्त्र नहीं पढ़े, जो अपने कर्त्तव्यों के प्रति प्रमाद करता है, जो धन के मोह से मूढ़ है ऐसे बालकबुद्धि वाले अज्ञ को, साम्पराय अर्थात् सम्यक् प्रयाण करने वाले महापुरुष के दशा विशेष का प्रतिभान नहीं हो पाता। 'यह लोक तथा परलोक दोनों नहीं हैं' ऐसा मानने वाला नास्तिक व्यक्ति बारम्बार मुझ मृत्यु के वश में पड़ता रहता है। अर्थात् नास्तिक का कभी मोक्ष नहीं होता ।। श्री ।।

संगति– यमराज फिर साम्पराय अर्थात् मरणोत्तरकाल की दशा की गहनता का वर्णन करते हैं ।। श्री ।।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे वत्स नचिकेता! यह आत्मतत्व इतना गहन है कि बहुत से लोगों को श्रवण के लिए भी नहीं प्राप्त हो पाता। अर्थात् सभी लोग आत्मतत्व के श्रवण का सौभाग्य नहीं प्राप्त करते। बहुत से लोग इस आत्मतत्व को सुन कर भी नहीं जान सकते कि आत्मतत्व का वक्ता आश्चर्यमय होता है और इसे प्राप्त करने वाला भी कुशल महापुरुष आश्चर्यमय ही होता है। कुशल महापुरुष द्वारा अनुशासित इस आत्मतत्व का ज्ञाता आश्चर्यमय ही होता है। यही बात भगवान् कृष्ण ने (गीता– २-२९) में कही है— हे अर्जुन! कुछ लोग आश्चर्य से ही इस आत्मतत्व का साक्षात्कार करते हैं, कुछ लोग आश्चर्य के साथ इसका व्याख्यान करते हैं, कुछ लोग इसे आश्चर्य पूर्वक ही सुनते हैं और कुछ लोग इसे सुन कर भी नहीं जानते। ऐसा अपूर्व आत्मतत्व आज नचिकेता के लिए सौभाग्य से श्रवणार्थ उपलब्ध है ।। श्री ।।

संगति– आत्मतत्व की दुर्लभता का वर्णन करते हुए यमराज नचिकेता से कहते हैं— वत्स! आत्मतत्व इतना सामान्य नहीं है कि जो सामान्य भोगवादी द्वारा उपदेश करने पर हृदयङ्गम हो सके। यह तो भगवत्कृपापात्र महापुरुष के चरण में बैठकर ही समझा जा सकता है ।। श्री ।।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! यह आत्मतत्व इतना गहन है कि अवर अर्थात् साधारण साधनाहीन मनुष्य द्वारा कहने पर तथा स्वयं साधनाहीन परिस्थित में बारम्बार चिन्तन किये जाने पर भी यह सरलता से हृदयङ्गम नहीं हो पाता। यह अणु से भी सूक्ष्म है। इसलिए जब तक साधक अपने अनन्य आचार्य का वरण करके, उस सद्‌गुरु से श्रवण नहीं करता, तब तक आत्मतत्व के ज्ञान में गति नहीं हो पाती। अथवा जो भगवान् के अनन्य हैं उन अनन्य महानुभावों द्वारा जिसका प्रवचन किया गया है ऐसे आत्मतत्व में सामान्य व्यक्ति की गति नहीं हो पाती॥ श्री॥

संगति– अब यमराज आत्मतत्व के विषय में अपना आदर प्रस्तुत करते हुए अन्य तर्कों का निराकरण कर रहे हैं॥ श्री॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज प्रसन्न होकर कह रहे हैं कि— हे नचिकेता! यह आत्मतत्व जिज्ञासायुक्त बुद्धि, तर्क से नष्ट नहीं करनी चाहिए, यह तो अपने से श्रेष्ठ आचार्य द्वारा प्रोक्त होने पर ही श्रेष्ठज्ञान के लिए ही समर्थ हो पाती है। जिस बुद्धि को सत्यरूप परमात्मा में अपनी सात्विक धृति रख कर तुमने प्राप्त किया है, उस कल्पलता को तर्क की कुल्हाड़ी से मत काटो। हे नचिकेता! तुम जैसा भगवत्तत्व पूछने वाला जिज्ञासु शिष्य इस भारत भूमि पर बार-बार जन्म लेता रहे। क्योंकि मेरे अन्य सेवक तो मुझ से अपराधी जीवों के दण्ड के विषय में पूछा करते हैं। केवल तुम्हीं आज भगवान् के सम्बन्ध में कुछ पूछे हो। अत: मैं आज तुम से बहुत प्रसन्न हूँ॥ श्री॥

संगति– कदाचित् नचिकेता को संदेह हो सकता है कि— यमराज स्वयं कह चुके हैं कि 'यह आत्मतत्व सामान्य व्यक्ति के द्वारा नहीं कहा जा सकता' जबकि यमराज भी गृहस्थाश्रमी पत्नी-पुत्र-पौत्र से युक्त प्राकृत गृहस्थ की भाँति पारिवारिक बंधन से बंधे हैं। अपराधी जीवों को यह उग्रदण्ड भी देते हैं तो फिर विरक्तशिरोमणियों के भी श्लाघनीय इस दुर्बोध आत्मतत्व के प्रवचन का अधिकार इन्हें कैसे मिला? इस संदेह के निराकरण के लिए

तथा अपने प्रति शिष्य का विश्वास बढ़ाने के लिए, यमराज अपनी शास्त्रपारंगतता का बड़ा मधुर वर्णन कर रहे हैं।। श्री ।।

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! मैं यह भली-भाँति जानता हूँ कि— अनित्य पदार्थ सामान्य सुखों की सीमा है। कोई भी वस्तु यहाँ असीम नहीं है। मैं यह भी जानता हूँ कि— अध्रुव अर्थात् क्षणभङ्गुर सांसारिक वस्तुओं से ध्रुव परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए निष्काम भाव से मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया और उसी के पुण्य से मैंने अनित्य वस्तुओं से भी नित्य परमात्मा को प्राप्त कर लिया।। श्री ।।

व्याख्या– प्रश्न- तृतीय चरण में यमराज कहते हैं कि— उन्होंने नाचिकेत अग्नि का चयन किया परन्तु यह तो अभी-अभी नचिकेता के द्वितीय वरदान के प्रसंग में यमराज के ही द्वारा अग्नि का नाचिकेत नाम रखा गया 'तवैव नाम्ना भवितायमग्निः' इससे इसकी अर्वाचीनता सिद्ध हुयी, तो फिर यमराज ने बहुत पहले ही नाचिकेताग्नि का चयन कैसे कर लिया ?

उत्तर– श्रुति का ज्ञान त्रिकालाबाधित है। अर्थात् श्रुति को भूत, भविष्यत्, वर्तमान का ज्ञान हस्तामलकवत् है। श्रुति ने नाचिकेत शब्द का प्रयोग कर दिया, पश्चात् घटना घटी। यहाँ यह ध्यान रहे कि श्रुति के शब्दों का अर्थ अनुगामी होता है। अर्थात् श्रुति जैसा कहती है घटनाएँ उसी प्रकार की होती हैं। जैसे— ऋग्वेद में श्रुति ने श्रीरामावतार की चर्चा की। उसका अनुगमन करके वैवस्वत मन्वन्तर में भगवान् श्रीराम का अवतार हुआ। ब्रह्मा भी वेद के शब्दों के अनुसार ही संसार की रचना करते हैं। सामान्य लोगों के शब्द अर्थ के अनुगामी होते हैं परन्तु श्रुति अर्थ की अनुगामिनी नहीं होती। प्रत्युत अर्थ ही श्रुति का अनुगमन करता है। इसी तथ्य को उत्तररामचरितम् में भवभूति स्पष्ट करते हैं—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति।।

लौकिक साधुन के करत बानि अनुगमन अर्थ।
अर्थ अनुगमन करत है श्रुति को सर्व समर्थ।।

यमराज का आशय है कि— उन्होंने निष्काम भाव से नचिकेताग्नि का चयन किया। इसी से अनित्य वस्तुओं की सहायता से उन्हें नित्य परमात्मा की प्राप्ति हुई। क्योंकि श्रुतिविहित कर्म का अनुष्ठान एक ऐसे अपूर्व (पुण्य) को उत्पन्न करता है जो भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक प्रत्यवायों को समाप्त कर डालता है॥ श्री॥

संगति– अब यमराज स्तुतिप्रकरण का उपसंहार करते हुए ब्रह्मविद्या प्रदान की इच्छा से उपयुक्त अधिकारी नचिकेता को सम्बोधित करके कहते हैं— हे नचिकेता! यद्यपि मैंने गहन परिश्रम करके नाचिकेताग्नि का चयन किया उसके फलस्वरूप मुझे जो परमार्थतत्व का बोध हुआ है उसका तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ॥ श्री॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! तुमने भोग्यपदार्थों की प्राप्ति में सहायक जगत् की प्रतिष्ठा को, श्रौत यज्ञों के अविनाशी फल को, सबकी स्तुति करने योग्य, अभय की परिसीमा, परमपूज्य सदैव महापुरुषों द्वारा गाये जाते हुए सबकी प्रतिष्ठा रूप ब्रह्मलोक प्राप्ति को भी, धैर्य से निरीक्षण करके मुझे वापस लौटा दिया। इतना बड़ा त्यागी और कौन होगा जिसे ब्रह्मविद्या दी जायेगी। इसलिए अब मैं तुम्हें आत्मतत्व का उपदेश दे रहा हूँ॥ श्री॥

संगति– कहीं छोटा समझ कर तुम इसकी उपेक्षा न कर दो। यह आत्मदेव अत्यन्त दुदर्श हैं॥ श्री॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिनका दर्शन देवताओं के लिए भी कठिन है, जो योगमाया के अञ्चल में छिपे हुए हैं, जिन्हें भक्तों ने अपने हृदय कमल में छिपा रखा है, जो सम्पूर्ण चराचर में अनुप्रविष्ट अर्थात् व्याप्त हैं, जो सभी प्राणियों की हृदयरूपगुफा में अन्तर्यामी रूप से विराजते हैं तथा जो गह्वर ज्ञानियों के चिन्तनवन में, भक्तों के स्नेहवन में तथा श्रीचित्रकूट और वृदान्वन में स्थित हैं, जो पुराणपुरुष हैं ऐसे देवाधिदेव परमेश्वर को अध्यात्मयोग

के अनुभव से, मनन का विषय बना कर, धीर पुरुष हर्ष तथा शोक को छोड़ देता है और आनन्दसुधासिन्धु में मग्न हो जाता है ।। श्री ।।

संगति– अब यमराज रुचि बढ़ाने के लिए ब्रह्मज्ञान के श्रवण का परिणाम कह रहे हैं ।। श्री ।।

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयँ हि लब्ध्वा विवृतँ सद्म नचिकेतसं मन्ये ।। १३ ।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता ! इस धर्म युक्त आत्मरहस्य को महापुरुषों से श्रवण करके, इसे ठीक-ठीक ग्रहण करके, एकान्त में निदिध्यासन करके, भगवत्सेवकरूप अपने अणु स्वरूप को प्राप्त करके, यह साधक सबके लिए प्रसन्न करने योग्य परमात्मा को अपने इष्ट रूप में प्राप्त करके, सर्वदा के लिए प्रसन्न हो जाता है। हे नचिकेता ! मैं तुम्हारे प्रति परमात्मा का भवन खुला हुआ मान रहा हूँ। अर्थात् तुम बहुत शीघ्र ही परमेश्वर के भवन में प्रवेश करके सालोक्य मुक्ति पा जाओगे ।। श्री ।।

व्याख्या– परमात्म दर्शन की तीन पूर्व भूमिकाएँ कही गयी हैं। महापुरुषों के श्रीमुख से आत्मतत्व का श्रवण, पुनः अपनी उपपत्तियों से तथा युक्तियों से किये हुए श्रुति वाक्यों का मनन, अनन्तर बारम्बार श्रुति सिद्धान्त का निदिध्यासन अर्थात् विचारपूर्वक अभ्यास। ये तीनों भूमिकाएँ इस मंत्र में क्रमशः श्रुत्वा, सम्परिगृह्य, प्रवृह्य शब्दों के द्वारा कही गयी हैं। आत्मज्ञान के लिए यमराज ने धर्म्य विशेषण का प्रयोग किया है। धर्म्य शब्द का अर्थ होता है धर्म से अनपेत अर्थात् जो कभी धर्म से दूर नहीं होता। तात्पर्य यह है कि— भगवान् का भजन ही प्रत्येक जीव का मुख्य धर्म है और आत्मतत्व के समझ लेने पर साधक को अपने तथा परमात्मा के स्वरूप का एवं ईश्वर के साथ जीव के सेवक-सेव्य-भाव का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् साधक को यह बात भली भाँति समझ में आ जाती है कि 'वह स्वामी नहीं भगवान् का सेवकमात्र है।' जैसा कि मानस में सुतीक्ष्ण जी कहते हैं ।। श्री ।।

अस अभिमान जाइ जनि भोरे । मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।।

अर्थात् "हे प्रभो ! भूलकर भी अथवा ज्ञानरूप प्रातःकाल के होने पर भी 'मैं भगवान् का सेवक हूँ और रघुपति प्रभु श्रीराम मेरे स्वामी हैं' ऐसा

स्वाभिमान मेरे मन से न जाय''। 'अणुमाप्य' जीवात्मा का स्वरूप अणु है। जब साधक आत्मतत्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर लेता है तब उसे अणु स्वरूप का बोध हो जाता है और तब वह मोदनीय परमात्मा को ही प्राप्त कर लेता है। यहाँ श्रुति का तात्पर्य यह है कि— संसार में और किसी को प्रसन्न करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि भगवान् प्रसन्न हो जाय तो संसार स्वयं प्रसन्न हो जायेगा। इसलिए केवल भगवान् ही मोदनीय अर्थात् प्रसन्न करने योग्य हैं। 'विवृतं सद्म' यहाँ प्रति शब्द का अध्याहार करना चाहिए। यमराज कहते हैं 'नचिकेतसं प्रति विवृतं सद्म मन्ये' अर्थात् तुम्हारे यानि नचिकेता के लिए मैं ईश्वर का भवन 'विवृत' अर्थात् खुला हुआ मानता हूँ। अब भगवान् के द्वार के किवाड़ तुम्हारे लिए बन्द नहीं होंगे ।। श्री ।।

संगति– इस प्रकार अपने आत्मज्ञानप्रसंशा वाक्यों को सुनकर तथा स्वयं को आत्मज्ञान का अधिकारी समझकर, अतिशीघ्र आत्मज्ञानश्रवण की इच्छा करते हुए, अपनी अधिक प्रसंशा सुनने की अनिच्छा प्रकट करते हुए, यमराज के चुप होने के पहले ही बीच में, नचिकेता ने प्रार्थनापूर्वक कहा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता कहने लगे— हे प्रभो ! यदि मुझ पर प्रसन्न हैं तथा मुझ पर निर्व्याज करुणा है तो, कृपा करके मेरी अधिक प्रसंशा न करें। आप मुझे उसी ब्रह्मतत्व का श्रवण करायें जो धर्म से भी परे हैं और अधर्म से भी अतीत हैं। अर्थात् जिसको धर्म का फल पुण्य और अधर्म का फल पाप नहीं बांध सकता तथा जो इस कृताकृत से दूर है अर्थात् जो कृत यानि कार्यसंसार और अकृत यानि कारणहिरण्यगर्भ से भी परे है, जो भूत और भविष्य काल से अतीत है ऐसे उस सर्वव्यापी तथा सर्वव्याप्य परमात्मा को यदि आप देख रहे हो अर्थात् यदि आपको परमात्मतत्व का ठीक-ठीक साक्षात्कार हो चुका हो तो आप उसी परमात्म तत्व का उपदेश करें। प्रथम पूछा हुआ जीवात्मतत्व पश्चात् सुना दीजिएगा। पहले सभी जीवात्माओं के सेव्य परमात्मा के ही सम्बन्ध में श्रवण कराइये ।। श्री ।।

व्याख्या– यह मन्त्र अत्यन्त गम्भीर है। इसके रहस्य को ठीक-ठीक बिना जाने कभी-कभी बड़े-बड़े धुरन्धर दार्शनिक भयंकर भूल कर बैठते

हैं। इसी मंत्र के आधार पर तो आचार्य शंकर ने निर्विशेषवाद का हौवा ही खड़ा कर दिया। और यहाँ तक कह डाला कि ब्रह्म निर्धर्मक हैं। उसमें कोई विशेष ही नहीं है। वह निष्क्रिय और निर्गुण है। आचार्य शंकर की यह व्याख्या बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित नहीं तो और क्या है? बौद्धों ने भी तो शून्य ही माना है। कदाचित् भगवत्पाद ने इस मन्त्र के अक्षरार्थ पर विचार किया होता तो ऐसा कुछ भी न होता जो हो गया। यहाँ स्पष्ट है कि— यह मन्त्र नचिकेता के प्रश्न के रूप में प्रस्तुत हुआ है और प्रश्न का तात्पर्य पूर्वपक्ष में होता है उत्तरपक्ष में नहीं। पूर्वपक्ष कभी-भी सिद्धान्त नहीं हुआ करता क्योंकि वह वादी द्वारा किया जाता है। 'वादी भद्रं न पश्यति' वादी कल्याण नहीं देखता वह तो अपना एक पक्ष प्रस्तुत करता है। सिद्धान्त उत्तरपक्ष में ही होता है। इसीलिए जैमिनीयशास्त्र को पूर्वपक्ष मान कर पूर्वमीमांसा की संज्ञा दी गयी और वेदान्त को उत्तरमीमांसा माना गया। यहाँ आश्चर्य यही है कि आचार्य शंकर ने नचिकेता के प्रश्नमन्त्र में वर्णित अभिप्राय को सिद्धान्त कैसे मान लिया। नचिकेता आचार्य भी नहीं हैं, वे एक जिज्ञासु शिष्य है। अत: उनका वाक्य सिद्धान्त में प्रमाण नहीं बन सकता। हाँ जिज्ञासा में प्रमाण बन सकता है। और दूसरी बात यह कि— इस मन्त्र में नचिकेता ने ब्रह्म को धर्म और अधर्म से परे कहा है न कि धर्महीन। वस्तुतस्तु धर्म का फल है पुण्य तथा अधर्म का फल है पाप। नचिकेता का तात्पर्य है कि— जो धर्म और अधर्म से परे अर्थात् इन दोनों के फलभूत पुण्य-पाप के बन्धन से मुक्त है, उस ब्रह्म का उपदेश दीजिए। जैसा कि गीता जी में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः'

अर्थात् भगवान् किसी के पाप और पुण्य को ग्रहण नहीं करते। श्री मानस में इन्द्र से बृहस्पति भी कहते हैं—

जद्यपि सम नहि राग न रोषू। गहइ न पाप पुन्य गुन दोषू।।

—(मानस— २-२१९-३)

इसी प्रकार 'अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र' संसार कृत है क्योंकि ब्रह्मा ने इसकी रचना की और हिरण्यगर्भ अकृत है। जो इन दोनों से परे हैं ऐसे ब्रह्म का उपदेश दीजिए अथवा जग-जगत् कृत है इसको अचित् भी कहते हैं। इन दोनों से जो परे हैं तथा जो चिद्-अचिद् विशिष्ट है वह ब्रह्म

चर्चनीय है। और जो भूत और भविष्यत् से भी अतीत हैं। जहाँ सदैव वर्तमान काल ही रहता है वह ब्रह्म विचारणीय है। वस्तुतः इस मन्त्र में चार बार अन्यत्र शब्द का प्रयोग हुआ है और अर्थतः इसका छः बार प्रयोग है। अन्यत्रशब्द सप्तमी प्रतिरूपक अव्यय है। क्योंकि यहाँ सप्तमी के अर्थ में अन्य शब्द से त्रल् प्रत्यय हुआ है। 'सप्तम्यास्त्रल्' सप्तमी अधिकरण में होती है और आधार को ही अधिकरण कहते हैं। इस दृष्टि से अब इस श्रुति का अर्थ एक विलक्षण ही होगा। नचिकेता कहते हैं— हे भगवन्! जो धर्म से प्राप्य स्वर्गलोक से भी विलक्षण साकेतलोक में विराजता है तथा जो अधर्म के फलभूत नरकलोक से भी विलक्षण दिव्यधाम में विराजमान है तथा जो 'कृत' संसार एवम् 'अकृत' देवलोक से अतीत परमव्योम में प्रतिष्ठित है तथा जो भूत अर्थात् पितृलोक और भव्य अर्थात् ब्रह्मलोक से भी अद्भुत महावैकुण्ठ में सपरिकर विद्यमान है उस सीताभिराम श्रीराम की चर्चा कीजिए। यद्यपि नचिकेता ने तृतीय वरदान के रूप में आत्मश्रवण माँगा था परन्तु यमराज के श्रेय-प्रेय व्याख्यान को सुन कर उन्हें पहले परमात्मतत्व के श्रवण की इच्छा हो गयी। इसलिए यमराज के उत्तर के बीच ही नचिकेता ने दूसरा प्रश्न कर दिया। यदि प्रत्यय का सप्तमी रूप अर्थ छोड़ भी दिया जाय तो भी ब्रह्म की निर्धर्मता नहीं सिद्ध हो पायेगी। उसका अर्थ केवल इतना ही होगा कि— जो धर्म भी नहीं है और अधर्म भी नहीं है। जो कृत अर्थात् जड़ जगत् भी नहीं है और अकृत (नित्यजीवात्मतत्व) भी नहीं है। जो भूत (मृत) भी नहीं तथा जो भव्य अर्थात् जन्म लेने वाला भी नहीं है, उस ब्रह्म की चर्चा कीजिए। इस ब्रह्म से यह तो सिद्ध हुआ कि ब्रह्म धर्म नहीं है पर यह नहीं सिद्ध होता कि ब्रह्म में धर्म नहीं है॥ श्री॥

संगति— इस प्रकार धर्मादि से विलक्षण परमात्मतत्व की जिज्ञासा करते हुए नचिकेता को देख कर, शब्द और अर्थ में अभेद बुद्धि से मन-वाणी से परे परब्रह्म का निर्वचन करना शब्द के बिना असम्भव जान कर, 'प्रारम्भिक मंगलाचरण से युक्त शास्त्र का अध्ययन कल्याणकारी होता है' ऐसे श्रुतिवचन का स्मरण करके, नचिकेता जैसे सुयोग्य शिष्य के मंगल की कामना करते हुए, महामाङ्गलिक शिरोमणि भगवान् यमराज परब्रह्म के प्रमुखवाचक ओंकार में ही ब्रह्म का अभेद बताते हुए उसके स्वरूप का निर्वचन करते हैं॥ श्री॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँ्सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँ् संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥१५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे वत्स! ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चारों जिस ब्रह्मपद का आदरपूर्वक अभ्यास करते हैं, चान्द्रायणादि कठोर शास्त्रविहित तप अपने अपूर्व से जिस ब्रह्म को साधक के हृदय में लक्ष्य रूप से स्थिर करते हैं, जिस ब्रह्म की इच्छा करते हुए साधक महानुभाव नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, तुम्हारे लिये उसी ब्रह्मचर्य पद का अत्यन्त संक्षेप में उपदेश करता हूँ वह ॐ इस प्रकार अक्षराकार वाला है। अर्थात् ॐ इस अक्षर से उसे जाना जा सकता है॥श्री॥

व्याख्या– 'वदन्ति' शब्द में भाषणार्थक 'वद्' धातु का प्रयोग नहीं है। क्योंकि तप कोई सजीव पदार्थ नहीं है जो अपनी वाणी से कुछ बोल सके। इसलिए 'वद् स्थैर्ये' इस स्थैर्यार्थक 'वद्' धातु का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ स्थिर करना। यथा 'रामः मर्यादाम् अवदत्' श्री राम ने मर्यादा को स्थिर किया। चान्द्रायण आदि तप और गीता में कहे हुए शारीरिक वाचिक और मानस तप एक ऐसा अपूर्व भाव उत्पन्न करते हैं, जिससे साधक अपने मन में भगवान् को स्थिर कर लेता है। बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है कि— 'ब्राह्मण वेदानुवचन तप और उपवास के माध्यम से ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं।' अर्थात् तप आदि से साधक के मन में आध्यात्मिकता की इच्छा जगती हैं। सांसारिक भोगों के सेवन से व्यक्ति में असत् कामनाओं का जन्म होता है। कोई भी ज्ञान किसी न किसी शब्द के माध्यम से होता है। अतः ब्रह्मज्ञान का भी ॐ माध्यम है। इसीलिए ब्रह्म के परिचय में यमराज को भी प्रणव को माध्यम बनाना पड़ा॥श्री॥

संगति– अब यमराज दो मन्त्रों से परमात्मा के वाचक प्रणव की प्रशंसा करते हैं॥श्री॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥१६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! यह प्रणव ही सर्वव्यापक परब्रह्म है तथा यही अविनाशी तथा उपासना में निर्गुण से भी श्रेष्ठ सगुण साकार ब्रह्म है। इसी प्रणव से अभिन्न निर्गुण सगुणात्मक परब्रह्म

को जानकर जो जिसकी इच्छा करता है उसके समक्ष वही उपस्थित हो जाता है। यहाँ प्रथम बार प्रयुक्त अक्षरशब्द व्यापक के अर्थ में है। ''अशु व्याप्तौ'' अशु धातु से 'क्षरन्' प्रत्यय हुआ है। 'अश्नुते इति अक्षरम्' और द्वितीय बार प्रयुक्त अक्षरशब्द अविनाशी शब्द का बोधक है। इस प्रकार ये दोनों शब्द क्रम से निर्गुण और सगुण ब्रह्म का बोध कराते हैं। प्रणव का जप करके यदि ज्ञानी निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति करना चाहता है तो उसे वह हो जाती है। यदि भक्त सगुणसाकारविग्रह श्रीराम आदि रूप में वर्तमान ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहता है तो प्रणव के जप से उसकी वही इच्छा पूर्ण हो जाती है।। श्री।।

संगति– हे नचिकेता! यही प्रणव निर्गुण ब्रह्म को समझने का श्रेष्ठ आश्रय है और यही प्रणव सगुणसाकारब्रह्म को प्राप्त करने का माध्यम भी। इसी को निर्गुण और सगुण का बोधक तथा अपनी साधना का आश्रय मान कर साधक ब्रह्मलोक में भगवत्परिकरों के द्वारा पूजित होता है।। श्री।।

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।।१७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यहाँ 'ब्रह्मलोक' शब्द साकेत का वाचक है।। श्री।।

प्रश्न- प्रणव को जप कर साकेत की प्राप्ति क्यों होती है?

उत्तर- क्योंकि राम और ॐकार में कोई अन्तर नहीं है। श्रीराम-तापनीयोपद् में तो ॐ से ही श्री लक्ष्मण, शत्रघ्न, भरत और श्रीराम की उत्पत्ति कही गयी है। अकार से लक्ष्मण, उकार से शत्रुघ्न मकार से भरत तथा अर्ध मात्रा से श्रीराम का प्राकट्य होता है। जैसे—

आकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिः विश्वभावनः।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसः स्मृतः।।

प्राज्ञात्मस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः।
अर्धमात्रास्थितो रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः।।

यही तथ्य श्रीरामचरितमानस में श्रीभरत प्रस्तुत करते हैं—

धरे नाम गुरु हृदयविचारी। वेद तत्व नृप तव सुत चारी।।

उधृत श्रुति का पद्यानुवाद देखिये—

प्रगट प्रकाशमय तनय सुमित्रा जू के,
लक्ष्मण कुमार विश्व प्रणव अकार से।
द्वितीय सुमित्रासुत प्रगट शत्रुघ्न जो,
तैजस् स्वरूप दिव्य प्रणव उकार से।।
प्राज्ञ के स्वरूप सुभरत श्रीभरत भये,
कैकेयी जठर ते प्रणव के मकार से।
अर्धमात्रा मध्य राम कौशिल्या सुवन ब्रह्म,
वेदतत्व रामभद्राचार्य के विचार से।।

पाणिनीय व्याकरण में रामशब्द से ही ॐ शब्द की उत्पत्ति मानी गयी है। जैसे— राम। यहाँ 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र से वर्णों का विपर्यय हो गया तब अ, उ, आ, म् बना। फिर 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' सूत्र से बाहुलक बल पर र को उ हो गया तब अ, उ, आ, म् बना फिर गुण और पूर्वरूप होकर ॐ बन गया।। श्री।।

संगति– इस प्रकार तीन मंत्रों में नचिकेता के मध्यवर्ती प्रश्न के अनुसार यमराज ने निर्गुण सगुण ब्रह्म का निरूपण किया और ओंकार से ब्रह्म का अभेद सिद्ध करके प्रणव को ही ब्रह्म का साधन बताया। अब नचिकेता को अन्तर्जिज्ञासा हुई कि— ब्रह्म को प्राप्ति करने वाले साधक का क्या स्वरूप है। यदि वह प्रत्यगात्मा है तो क्या शरीर ही जीवात्मा है। अथवा इन्द्रियों को जीवात्मा माना जाय अथवा मन ही आत्मतत्व है या व्यवसायात्मिका बुद्धि को ही आत्मतत्व कहते हैं। वह दृश्यमान है या दृष्टा, वह पुराना है या नया, वह जन्म लेता है या नहीं, वह अमर है या अमृत, वह नित्य है या अनित्य? इन सभी प्रश्नों के उत्तर देते हुए यमराज कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।१८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! यह विवेचनापूर्वक ब्रह्म दर्शन करने वाला अथवा अनेक प्रकार के दृश्य देखने वाला अर्थात् विभु परमात्मा को ही निहारने बाला यह जीवात्मा, न ही रज-शुक्र से जन्म लेता है और नहीं मरता है। यह जीवात्मा किसी प्राकृत माता-पिता के सम्पर्क से न ही उत्पन्न हुआ क्योंकि यह सच्चिदानन्द स्वरूप है। यह

अजन्मा है– इसका कभी नाश नहीं होता। यह शाश्वत अर्थात् निरन्तर रहता है। यह पुरातन तथा पहले भी नया अर्थात् पुराण है। यह शरीर के नष्ट किये जाने पर भी नष्ट नहीं होता॥ श्री॥

व्याख्या– इस मन्त्र के तीन चरणों में जीवात्मा के तीनों चरणों का निषेध कहा गया अर्थात् यह स्थूल शरीर से विलक्षण है इसलिए जन्म-मृत्यु से रहित है। यह सूक्ष्म शरीर भी नहीं है इसलिए परोक्ष में भी कहीं से नहीं आया न किसी नाम से उत्पन्न हुआ। यह अज्ञान शरीर भी नहीं है इसलिए अज्ञानादि धर्मों से उपलक्षित है। अथवा मन्त्र के पूर्वार्ध में चार निषेधवचन आये हैं 'न जायते, न म्रियते, न कुतश्चित्, न कश्चित्', अर्थात् जीवात्मा जन्म नहीं लेता, मरता नहीं, कहीं से आया नहीं, किसी नाम से हुआ नहीं। इन चारों सिद्धान्तों के हेतुरूप में तृतीयचरण प्रस्तुत हुआ। **प्रश्न-** क्यों नहीं जन्म लेता? **उत्तर–** 'अजः' क्योंकि यह अजन्मा है। **प्रश्न-** क्यों नहीं मरता? **उत्तर–** 'नित्यः' अर्थात् यह नित्य है, इसका कभी ध्वंश होता ही नहीं। **प्रश्न-** यह कहीं से क्यों नहीं आया? **उत्तर–** 'शाश्वतः' क्योंकि शाश्वत है इसकी निरन्तर सर्वत्र सत्ता रहती है। **प्रश्न-** यह किसी नाम से क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? **उत्तर-** 'पुराणः' क्योंकि यह पुराना है। जन्म लेने वाला तो नया होता है। अथवा मन्त्र के तृतीय चरण से जीवात्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि इन चारों से विलक्षण कहा गया है। अर्थात् 'अजः' अजन्मा होने के कारण ही जीवात्मा शरीर नहीं है। शरीर का जन्म होता है जीवात्मा का जन्म नहीं होता। जीवात्मा इन्द्रिय भी नहीं है क्योंकि यह नित्य है 'नित्यः'। इन्द्रियों का ध्वंश हो जाता है। व्यवहार में किसी की नेत्र-ज्योति चली जाती है, किसी को कान से नहीं सुनाई देता, किसी की प्राणशक्ति समाप्त हो जाती है। कभी-कभी अंग के शिथिल होने पर स्पर्श का भान नहीं होता, किसी को स्वाद का ज्ञान नहीं रहता, बहुत से लोगों का हाथ-पैर टूट जाता है। बहुत से लोग गूँगे हो जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों का विनाश होते देखा गया है परन्तु आत्मा नित्य है, यदि इन्द्रिय ही आत्मा होता तो किसी भी इन्द्रिय के नष्ट होने पर प्राणी को नहीं जीना चाहिए था। जबकि इन्द्रिय विशेष के न रहने पर भी गूँगे, बहरे आदि जीते देखे जाते हैं। आत्मा मन भी नहीं है, क्योंकि वह शाश्वत है 'शाश्वतः' मन चंचल होता है। और वह सदा सबके पास नहीं होता। जैसे वृक्ष के पास मन नहीं होता, वह संकल्प नहीं कर पाता पर आत्मा शाश्वत है। वह स्थिर

और सर्वव्याप्त है। इसलिए मन से वह विलक्षण है। आत्मा बुद्धि भी नहीं है, क्योंकि यह पुराना है। पहले भी नया था पश्चात् भी नया रहेगा। बुद्धि का नाश हो जाता है। पुरातन का नाश नहीं होता। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए मैंने अपने 'स्वरूपचिन्तन' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट कहा है—

अहं नो शरीरं हृषीकाणि नाहं
मनो नैव नाहं न बुद्धिर्न चित्तम्।
अहं नित्यसाकेतकेताभिलाषी,
सदा राघवीयो जानोऽहं जनोऽहम्।।

चतुर्थचरण में सिद्धान्त और स्पष्ट करते हैं 'न हन्यते' यहाँ शरीरशब्द तीनों शरीरों का ग्राहक है। स्थूल शरीर, इन्द्रिय,मन तथा बुद्धि के नष्ट किये जाते रहने पर भी जीवात्मा का हनन नहीं होता। द्वितीयचरण में जीवात्मा की उत्पत्ति का दो बार निषेध करने में श्रुति का अभिप्राय यह है कि— प्राय: दो प्रकार से जन्म होता है। मनुष्य आदि का माता-पिता से और कीटाणुओं का अपने से। पर यह जीवात्मा इन दोनों प्रकार के जन्मों से रहित है। इसीलिए श्रुति ने कहा— 'न कुतश्चित् न कश्चित्।' न तो यह किसी के सम्पर्क से उत्पन्न होता है और न स्वयं ही हो सकता है। **प्रश्न-** पहले उत्पन्न हुआ हो यमराज ने न देखा हो? **उत्तर-** 'न बभूव' यह मेरे परोक्ष में भी कभी उत्पन्न ही न हुआ। **प्रश्न-** यदि जीवात्मा किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता तो फिर तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मानन्दवल्ली में ब्रह्म का लक्षण कहते हुए अरुण ने प्राणियों की उत्पत्ति कैसे कही? 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्तरीयोपनिषद् उ० २-२)। **उत्तर-** आपने मन्त्र के अक्षरार्थ पर ध्यान नहीं दिया, वहाँ भूतानि शब्द का प्रयोग है आत्मा का नहीं। अर्थात् शरीरविशिष्ट जीवात्मा को भूत कहते हैं। जब तक आत्मा का शरीर से मोह है तब तक उसको 'मैं राकेश हूँ मैं मोहन हूँ' इत्यादि शरीरविशिष्ट का ज्ञान है। और तब तक उसका जन्म-मरण भी निर्विवाद है। यहाँ जन्म-मरण का निषेध तो नामरूपनिरपेक्ष जीवात्मा का कहा गया है। अथवा श्रुति ने 'न कुतश्चित्' कह कर सांसारिक माता-पिता से जीवात्मा के जन्म न लेने की बात कही है। भगवान् के पास से तो उसका जन्म होता ही है। इसलिए (गीता- ८-१८) में स्पष्ट कहा गया है कि— ब्रह्म के दिन के अन्त में जीवात्मा भगवान् में लीन हो जाते हैं और

दिन के प्रारम्भ में भगवान् से ही उत्पन्न होते हैं। इस 'अज' शब्द की यों भी व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिए। 'अ' अर्थात् वासुदेव भगवान् से 'ज' अर्थात् जन्म लेने वाला जीवात्मा ही अज है। 'अकारो वासुदेवा तस्मात् जातः अजः' इसलिए श्रुति ने जीवात्माओं को अमृत का पुत्र कहा। 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। **प्रश्न-** यहाँ तो जीवात्मा को भगवान् का पुत्र कहते हैं परन्तु मुण्डकोपनिषद् में तो जीवात्मा को परमात्मा का सखा कहा गया है। 'द्वा सुपर्णा सखाया' (मुण्डक– ३-१-१)? **उत्तर–** पुत्र भी विशेष परिस्थिति में पिता का मित्र बन जाता है। नीति भी कहती है— 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्' अर्थात् सोलह वर्ष का हो जाने पर पुत्र के साथ मित्रवत् व्यवहार करना चाहिए। भगवान् प्रत्येक प्राणी से मित्रवत् व्यवहार ही करते हैं 'सुहृदं सर्वभूतानां' (गीता- ५-२९) 'स्वारथ रहित सखा सबही के' (मानस– २-७४-६)। अतः वहाँ आचरण की दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा की मित्रता कही गयी। परमार्थ में तो जीवात्मा परमात्मा का पुत्र ही है, इसलिए (गीता– ७-१५) में भगवान् कहते हैं कि— यह जीवात्मा मेरा सनातन अंश है। यदि कहें— यहाँ सादृश्य में लक्षणा है तो उचित नहीं होगा। क्योंकि यहाँ एवकार का प्रयोग है। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' (गीता– ७-१५)। यदि कहें कि— यहाँ अंश औपाधिक है तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि उपाधि अनित्य होती है और भगवान् ने यहाँ अंश को सनातन विशेषण दिया। यदि कहें कि उपाधि भी नित्य मान ली जाय, तब तो आपका अद्वैत पक्ष ही खतरे में पड़ जायेगा। क्योंकि ब्रह्म के साथ उपाधि को नित्य मान लेने पर आप स्वयं द्वैत के चंगुल में पड़ जायेंगे और जब उपाधि नित्य हो जायेगी तो जीवात्मा का कभी मोक्ष होगा ही नहीं क्योंकि आपके मत में उपाधि भंग ही मोक्ष है और मोक्ष के व्यर्थ होने पर आपके ही अविवेक से आपका लाड़ला अद्वैतवाद तहस-नहस हो जायेगा। यदि कहें कि जीवात्मा को परमात्मा का अंश मान लेने पर परमात्मा की अखण्डता नष्ट हो जायेगी। तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि एक दीपक से हजारों दीपक जलाये जाते हैं पर क्या दीपक में सखण्डता आ जाती है। वस्तुतः आप ने वेदमुख व्याकरण का भी अनुशीलन नहीं किया है। व्याकरण के अनुसार 'अश्नाति इत्यंशः' अर्थात् जो पिता की सम्पत्ति का उपभोग करता है उस पुत्र को अंश कहते हैं। अनन्त परमात्मा अनन्त जीवात्माओं को जन्म देख कर भी अखण्ड ही रहते हैं॥ श्री॥

संगति– अब कहे हुए अर्थ को फिर स्पष्ट कर रहे हैं॥ श्री॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु ँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाय ँ हन्ति न हन्यते॥१९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति किसी को मारने के लिए अपने को मारने वाला मानता है तथा किसी के द्वारा अपने को मारा हुआ समझता है वास्तव में वे दोनों ठीक-ठीक नहीं जानते। जीवात्मा न तो किसी को मारता है न ही किसी के द्वारा मारा जाता है॥ श्री॥

व्याख्या– 'हन्ता' शब्द में 'तृन्' प्रत्यय हुआ है। श्रुति का आशय यह है कि— शरीर से प्राणों का अलग होना ही हन् धातु का अर्थ है। क्षणभङ्गुर होने के कारण शरीरप्राणों का वियोग हो सकता है परन्तु जीवात्मा के प्राण हैं परमात्मा 'स उ प्राणस्य प्राण:' (के०उ०- १-२)।

'प्रान-प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम॥'

—*(मा० २-२९०)*

परमात्मा जीवात्मा का नित्य सखा है। वे उसे कभी छोड़ नहीं सकते। इसलिए जीवात्मा का मरण नहीं हो सकता। इसी आशय को यहाँ श्रुति ने स्पष्ट किया कि— यहाँ मारने वाले को मारने तथा मरने वाले को मरने का अभिमान मिथ्या है। जीवात्मा भगवान् के पास से आये हैं। 'यतो व इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत० ३-२) अत: सभी परस्पर भ्राता हैं। आदर्श भाई अपने भाई को कभी नहीं मारता और यदि वह मारना भी चाहे तो भी जीवात्मा का मरण सम्भव नहीं है क्योंकि वह पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि इन पंचमहाभूतों से सूक्ष्म है। ये उसे विकृत नहीं कर सकते। यही सिद्धान्त भगवान् श्रीकृष्ण ने (गीता- २-१९ से ३० तक) स्पष्ट किया है॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार दो मंत्रों से नचिकेता के द्वारा पूछे हुए आत्मतत्व की संक्षिप्त व्याख्या करके यमराज जीवात्मा परमात्मा की व्याख्या करते हैं। अर्थ पंचक के सारांश को तृक में संक्षिप्त करके पूर्वाचार्य महात्माओं ने जीवात्मा परमात्मा तथा उन दोनों के मध्यवर्ती सेवक-सेव्य-भाव सम्बन्ध यही तीन ज्ञेय हैं। जगद्गुरु आद्यरामानन्दाचार्य के प्रशिष्य श्री गोस्वामी तुलसीदास महाराज ने दोहावाली में इन्हीं तीनों को जानने पर बल दिया है॥ श्री॥

हम लखि लखहिं हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखहिं राम नाम जप नीच।।

यहाँ 'हम' शब्द से जीवात्मा 'हमार' शब्द से परमात्मा तथा 'हम हमार के बीच' पद से जीवात्मा और परमात्मा के मध्यवर्ती सेवक-सेव्य-भाव सम्बन्ध का संकेत करके गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं— अरे नीच मन पहले हम अर्थात् अहमर्थभूत जीवात्मा को देखो फिर हमार अर्थात् हमारे आत्मीय परमात्मा को देखो फिर 'हम हमार के बीच' अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के मध्यवर्ती सेवक-सेव्य-भाव सम्बन्ध पर विचार करो। जो अलख हैं उसे देखने का क्या प्रयास करते हो। अरे! मूर्ख राम नाम का जप करो। इन्हीं तीन सिद्धान्तों की मीमांसा के रूप में अगले मंत्र का प्रारम्भ होता है।। श्री।।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ।।२०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– परमात्मा जीवात्मा के मित्र हैं। इसलिए वे प्रत्येक जीवात्मा के निर्धारित शरीर में उसी के साथ अपनी उपस्थिति से अपने मित्र को कष्ट दिये बिना ही निवास करते हैं। अतः वहाँ वे अपने को जीवात्मा से भी छोटा बना लेते हैं। हे नचिकेता! आत्मा अर्थात् परमात्मा जो महान् जीवात्मा से भी बड़े हैं, वह जनम-मरण के चक्कर में पड़े हुए अपने मित्र जीवात्मा की आज्ञान अंधकारमयी हृदय की गुफा में अणुभूत जीवात्मा से भी 'अणीयन्' अर्थात् लघुतर रूप बना कर अपने ऐश्वर्य को छिपा कर विराजते रहते हैं। उन परमात्मा तथा परमात्मा की अमित महिमा को उन्हीं परमेश्वर की कृपा के प्रसाद से संसार के शोकों को नष्ट करके, सभी सांसारिकसंकल्प प्रभु के चरणों में न्योछावर करके, साधक मनोमय नेत्र से निहार लेता है।। श्री।।

व्याख्या– यहाँ आत्मा शब्द परमात्मा का वाचक है। 'आप्नोति-व्याप्नोति इति'आत्मा। जो सर्व व्यापक है उसे आत्मा कहते हैं। यह व्युत्पत्ति भी पूर्वोक्त अर्थ में प्रमाण है। 'जन्तु' शब्द जीवात्मा परक है। जनुं तनोति इति जन्तुः। यह जीवात्मा अज्ञानवश संसार के प्रपञ्च में पड़ कर जन्म-मरण की परम्परा का विस्तार करते रहते हैं। इसलिए इसको जन्तु कहा गया। गीता जी में भी भगवान् अज्ञान से मोहित जीव को ही

जन्तु कहते हैं। 'तेन मुह्यन्ति जन्तवः' (गीता– ५-१५)। चूँकि जीव का हृदय अज्ञानअंधकार से भरा है, इसलिए श्रुति ने ही अज्ञानी हृदय को गुह्य संज्ञा दी है। 'धातुप्रसादात्' परमात्मा संसार को धारण-पोषण करते हैं इस से उन्हें धातु कहा गया। 'दधाति इति धातुः' 'धा' धातु 'उण्' प्रत्यय तुट का आगम। 'धातोः प्रसादः' 'धातुप्रसादः' तस्मात्। विष्णुसहस्रनाम में भी भगवान् को धातु कहा गया है। विधाता धातुरुत्तमः (विष्णुसहस्रनाम- ४७)। कुछ लोग धातुशब्द की व्याख्या करते हुए धातुशब्द का सातों धातुओं का आधारभूत शरीर और प्रसादशब्द का इन्द्रियसंयमरूप करते हैं, पर ऐसी व्याख्या एक रसहीन मस्तिष्क का व्यायाम मात्र कहा जा सकता है। कुछ लोग धातु का अर्थ शुक्र और प्रसाद का अर्थ ब्रह्मचर्य करते हैं। पर धातु विग्रह से परमात्मा का दर्शन अनिवार्य नहीं है। घोड़े भी ब्रह्मचारी होते हैं। अतः यहाँ धातु का अर्थ परमात्मा ही है। जब परमात्मा कृपा करते हैं तो वे अधम से अधम जीव को अपना दर्शन दे देते हैं। और जब उनकी कृपा नहीं होती तो उत्तम से उत्तम लोग प्रतीक्षा की तालिका में रह जाते हैं। जैसे बड़े-बड़े देवता एक घूँट भी चरणोदक नहीं पा सके और साधारण केवट ने पच्चीसों कठौते गटक दिये। इसलिए परमेश्वर के प्रसाद से ही जीवात्मा परमात्मा की महिमा का अनुभव कर पाता है। केवट स्वयं कहता है— 'कहई तुम्हार मरम मैं जाना' मैंने आप का मरम जान लिया। और देवताओं के लिए कहा गया— 'तेउ न जानइ मरम तुम्हारा'। **प्रश्न-** जीवात्मा और परमात्मा दोनों एक ही साथ रहते हैं इसमें क्या कोई सूत्र प्रमाण भी हैं ? **उत्तर–** हाँ (ब्रह्मसूत्र १-११)। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ'। **प्रश्न-** यहाँ 'आत्मानौ' शब्द से किसका बोध होगा ? **उत्तर–** जीवात्मा और परमात्मा का। आत्मा च आत्मा च आत्मानौ। यहाँ 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा०अ०- १-२-६६) सूत्र से एकशेष हो गया है। **प्रश्न-** आपने प्रथम आत्मा का अर्थ जीवात्मा और द्वितीय का परमात्मा किया है। अतः दोनों में स्वरूपता कहाँ। और उसके अभाव में एकशेष कैसे हुआ ? **उत्तर–** यहाँ अर्थ का वैरूप्य होने पर भी आनुपूर्वीगत समानरूपता ली गयी है। जैसे— रामश्च रामश्च रामश्च इति रामाः। यहाँ एक राम हैं परशुराम, दूसरे हैं दशरथपुत्र राम और तीसरे राम शब्द का अर्थ है बलराम। इस प्रकार अर्थ में विविधता होने पर भी तीनों की आनुपूर्वी में समानरूपता होने से एकशेष हो गया। अर्थात् एक साथ शब्द और अर्थ दोनों की सामानरूपता अनिवार्य

नहीं है। रामाः इत्यादि स्थलों में अर्थ की विविधता में शब्दगतसमानरूपता एवं 'घटश्च कलशश्च कलशौ' इत्यादि स्थलों में शब्द की विविधता में अर्थ की समानरूपता का आशय लिया गया है। और कहीं-कहीं शब्द और अर्थ इन दोनों की समानरूपता ली गयी है। जैसे— बालकश्च बालकश्च बालकश्च बालकाः। यह बात कात्यायन भी कहते है 'विरूपाणामपि समानार्थानाम्'। अतः 'आत्मानौ' शब्द में भी शब्दगतसमानरूपता स्वीकार कर एकशेष किया गया॥ श्री॥

संगति– यहाँ नचिकेता की तीन अन्तर्जिज्ञासायें हैं। यदि प्रत्येक शरीर में जीवात्मा के साथ ही हृदय गुफा में परमात्मा विराजते हैं तो वे परमभागवत शिरोमणियों के नेत्रों के विषय कैसे बनते हैं? और ज्ञानियों के अनुभव में कैसे आते हैं? तथा हृदय की गुफा में छिप कर रहने वाले प्रभु की चराचर में व्यापकता कैसे सिद्ध होती है? इन तीन जिज्ञासाओं का समाधान करती हुई भगवती श्रुति कहती हैं—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।।२१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इसके पहले मन्त्र में आत्माशब्द परमात्मा के लिए कहा गया है। वहाँ जन्तु शब्द में षष्ठी तथा 'आत्मा' शब्द में प्रथमा है। षष्ठी का अर्थ है सम्बन्ध। 'गुहा' शब्द में सप्तमी है उसका अर्थ है अधिकरण। गुहाशब्द का जन्तु के साथ अन्वय है। जन्तु शब्द प्रतियोगी और गुहा अनुयोगी है। उसमें आत्मा आधेय है अर्थात् जीवात्मा की हृदयरूप गुफा में परमात्मा सिद्ध हुआ। ऐसे जीवात्मा के हृदय में वर्तमान भगवान् भी भक्त के स्मरणमात्र से सुदूर चले जाते हैं और परमव्योम महावैकुण्ठ में अपने ऐश्वर्यों को शान्त करके शयन करते हुए प्रभु सर्वत्र जाकर भक्तों की विपत्तियों को निहार लेते हैं। ऐसे मदामद अर्थात् भक्तों के सुख में सुखी, उनके दुःख में दुःखी, परम ऐश्वर्य के रहने पर भी ऐश्वर्य के अभिमान से शून्य जीवों के भवबन्धन को काटने वाले, परमप्रकाशमान परमात्मा को मेरे अतिरिक्त भला कौन जान सकता है, अर्थात् मैं भागवतधर्म का आचार्य हूँ और आचार्य में ही परमेश्वर को भली-भाँति जानने का सामर्थ्य होता है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ कुछ लोग 'व्रजति-याति' क्रिया के साथ हठवश इव शब्द का अध्याहार मानते हैं क्योंकि उनका ब्रह्म निर्धर्मक है, वह कोई क्रिया कर ही नहीं सकते पर उनका यह पक्ष एकदेशीय है। उनकी मान्यता का श्रुति भी पोषण करें यह कोई अनिवार्य नहीं। क्या किसी पीलिया के रोगी की रुचि का पालन करने लिये चन्द्रमा पीले हो सकते हैं? भगवान् बैठे-बैठे भी दूर जा सकते हैं जैसे प्रह्लाद के हृदय में बैठ करके भी खम्भे से प्रगट होकर हिरण्यकशिपु का वध कर दिया एवं जैसे कौसल्या जी के पालने पर सोते हुए भी श्रीराघवजी ने रंगनाथ जी के मंदिर में भोजन कर लिया ।। श्री ।।

इस मंत्र में प्रयुक्त शब्द "मदामदम्" बहुत महत्वपूर्ण है। आचार्य शंकर ने "मदी" धातु का हर्ष अर्थ स्वीकार कर, पचादित्त्वात् अच् प्रत्यय करके, उत्तरवर्ती मद शब्द को 'नञ्' का घटक बनाकर, पुनः मदशब्द के साथ अमदशब्द का कर्मधारयसमास किया जिसका अर्थ होता है प्रसन्न और अप्रसन्न। पर उन्होंने यह नहीं कहा कि— भगवान् कब प्रसन्न और कब अप्रसन्न होते हैं? सौभाग्य से इस प्रश्न का उत्तर श्रीरामचरितमानस में मिल जाता है। हमारे प्रातः स्मरणीय तुलसीदासजी अयोध्याकाण्ड में कहते हैं कि— भगवान् भक्त के सम्मान से प्रसन्न होते हैं और भक्त के अपमान से अप्रसन्न होते हैं, यथा—

सुख मानत सेवक सेवकाई। सेवक बैर कैर अधिकाई ।।

—(मानस २-२१७-२)

'मदामदम्' शब्द की अब मेरी ओर से और तीन व्याख्यायें प्रस्तुत की जा रही हैं—

(१) यहाँ 'मदी धातु' से भाव में अच् प्रत्यय हुआ है। प्रथम मदशब्द का ऐश्वर्य अर्थ है, द्वितीय का अहंकार, पुनः अहंकारार्थक मदशब्द से नञ् घटितबहुब्रीहिसमास करके प्रथम सप्तम्यन्तसमास के साथ तत्पुरुष समास करके मदामदशब्द की सिद्धि करनी चाहिये। 'मदे अमदः मदामदः' अर्थात् ऐश्वर्य के रहने पर भी जो मद से शून्य हैं उन परमात्मा को ही श्रुति मदामद कहती हैं। जीव प्रभुता पाकर उन्मत्त हो जाता है, 'प्रभुता पाई काहि मद नाही' किन्तु ईश्वर की यही विशेषता है कि वे नित्य प्रभुता सम्पन्न होकर भी मदन मोहन अर्थात् मद न मोह न बने रहते हैं।। श्री ।।

(२) संस्कृत में 'म' शब्द का चन्द्र अर्थ होता है और दाम का अर्थ होता है बन्धन। भगवान् व्रज के चन्द्र होने पर भी यशोदा के ऊलूखल बन्धन को स्वीकार लेते हैं, इसलिए उन्हें मदामद कहते हैं। 'दामानि यशोदा-बन्धनानि आदत्ते इति दामदः' और 'मश्चासौ दामदश्च इति मादामदः।' अर्थात् यशोदा जी के उलूखल बन्धन में बधने वाले परमात्मा को मुझ यमराज के अतिरक्ति कौन जा सकता है ?

प्रश्न- दाम शब्द से आ पूर्वक दा धातु से क प्रत्यय करने पर मदामदः बनेगा ?

उत्तर- नहीं यहाँ शकन्ध्वादिगण में पठित होने से पररूप करके मदामद ही बनेगा।

(३) कोष में 'म' शब्द का जीव अर्थ भी होता है। इस प्रकार म याने जीव के दाम अर्थात् बन्धन को द अर्थात् नष्ट करने वाले परमात्मा ही मदामद हैं। 'मस्य जीवस्य दामानि बन्धनानि द्यति खण्डयति स मदामदः तं मदामदम्।' जीव का भवबन्धन तोड़ना भगवान् का सहज स्वभाव है। मानस में शिवजी पार्वतीजी से कहते हैं—

जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बन्धन काटहिं नर ज्ञानी।।

—(मानस ५/२०/३)

'ऐसे सर्वदा निरभिमान भवबन्धन काटने वाले भक्तवत्सल भगवान् को मैं पूर्ण रूप से जानता हूँ' ऐसा यमराज कहते हैं।। श्री ।।

संगति— यहाँ नचिकेता ने अन्तर्जिज्ञासा की— भगवन्! आपने पूर्व मन्त्र में यह उपदेश किया कि— परमात्मा प्रत्येक शरीर में जीवात्मा के साथ विराजते हैं, तो कृपा करके बतायें कि— 'भगवान् जीवात्मा के साथ हृदय गुफा में सशरीर विराजते हैं या विना शरीर।' इस पर यमराज कहते हैं।। श्री ।।

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।२२।।

रा०कृ०भा० सामन्यार्थ— जीवात्माओं के क्षणभङ्गुर शरीरों की हृदयगुफाओं में अपने शरीर को अस्पष्ट रखते हुए विशेषरूप से विराजमान, परम पूजनीय, सर्वव्यापी, परमात्मा को अपने आराध्यरूप समझ कर जीव शोक नहीं करतां।। श्री ।।

व्याख्या– भगवान् का शरीर तो होता है पर स्पष्ट नहीं। वस्तुतस्तु जीवात्मा भी उनका शरीर है। श्रुति कहती है ''यस्य आत्मा शरीरम्'' विभु शब्द से यहाँ परमात्मा का बोध कराया गया क्योंकि जीवात्मा अणु है। ''न शोचति'' प्रियतम के वियोग में ही शोक होता है। जब जीव परमात्मा को ही प्रियतम मान लेता है तब उसे शोक का अवसर नहीं मिलता क्योंकि उसे परमात्मा का वियोग होता ही नहीं ॥ श्री ॥

संगति– नचिकेता की अन्तर्जिज्ञासा यह है कि— अभी-अभी तीन मन्त्रों में आपने जिन परमात्मा की चर्चा की वे कैसे मिल सकते हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए यमदेव उपायस्वरूप का वर्णन करते हैं ॥ श्री ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँ स्वाम् ॥२३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवती श्रुति कहती हैं— यह परमात्मा प्रवचन से नहीं प्राप्त हो सकते, भगवान् मेधा से नहीं मिलते और परमेश्वर बहुत शास्त्र-श्रवण से भी नहीं मिलते, जिसको वे अपने कृपापात्र के रूप में वरण कर लेते हैं, उसको प्राप्त हो जाते हैं और उसके माध्यम से अन्य को भी प्राप्त हो जाते हैं। भगवान् जिसको वरण करते हैं, उसके समक्ष अपने श्रीविग्रह को प्रकट कर देते हैं ॥ श्री ॥

व्याख्या– कुछ लोग प्रवचन का अर्थ वेद स्वीकार करते हैं। उनके मत में वेदस्वीकरण से भगवान् नहीं मिलते। परन्तु उनका यह व्याख्यान अवैदिक है। यह शाश्वतसत्य है कि— जिसने वेद को स्वीकार कर लिया उसे भगवान् मिलेंगे ही। क्योंकि वेद स्वयं भगवान् हैं 'वेदो नारायण: साक्षात्''। दूसरी बात यह भी है कि— प्रवचनशब्द का वेदस्वीकरण अर्थ कहीं देखा नहीं गया। प्र ब्रू धातु का उत्कृष्ट भाषण ही अर्थ है। प्रवचनम् अध्यापनम्। **प्रश्न-** यदि भगवान् प्रवचन से नहीं मिलते तो फिर तैत्तिरीय श्रुति में 'स्वाध्याय और प्रवचन से प्रमाद नहीं करना चाहिए' ऐसा क्यों कहा गया ? **उत्तर–** यहाँ श्रुति केवल प्रवचन का निषेध करती है। तात्पर्य यह है कि भगवान् केवल प्रवचन अर्थात् अध्यापन से नहीं प्राप्त होते। यदि कोई वेदाध्यापन को ही भगवान् का साधन मान कर उसी में सारा जीवन लगा दे और भगवान् के नाम-रूप-लीला-धाम का चिन्तन न करे तो उसे भगवान् प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार यदि कोई

शास्त्रमेधा अर्थात् शास्त्र धारणा को ही भगवत्प्राप्ति का साधन मान ले तो वह भी परमेश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार बहुत वेदश्रवण से भी भगवान् की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यहाँ ध्यान रहे कि प्रवचन, मेधा, श्रुति ये तीनों ही तृतीयैकवचनान्त हैं, यहाँ करण में तृतीया हुई है। ''साधकतमं करणम्'' अर्थात् क्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकरण को करण कहते हैं। यहाँ तीन वार निषेध करके श्रुति यह कह रही है कि— भगवत्प्राप्तिरूप क्रियासिद्धि के प्रति प्रवचन, मेधा एवं वेदश्रवण ये तीनों प्रकृष्ट उपकारक नहीं हैं। ये केवल भगवत्प्राप्ति प्रतिबन्धक प्रत्यूहों के विनाश के कारण बनते हैं। इसलिए प्रवचन, मेधा और श्रुत ये अकेले भगवत्प्राप्ति के कारण नहीं हैं। इन्हें सहकारीकारणों की कोटि में रखा जा सकता है। अब प्रश्न है— भगवान् कैसे प्राप्त होते हैं? इस पर श्रुति कहती हैं— 'यमेवैष वृणुते' जिसको यह परमात्मा अपने कृपापात्ररूप में वरण करते हैं अर्थात् अंगीकार करते हैं। जैसे— भगवती सीता जी को भगवान् ने पुष्पवाटिका में वरण किया, उनके द्वारा प्राप्त हुए और फिर उनके समक्ष अपने शरीर को प्रकट कर दिया। जैसे—

लताभवन ते प्रकट भे तिहि अवसर दोऊ भाइ ।।

—(मानस बा० २३२)

तेन शब्द में कर्ता तथा कर्म में तृतीया है। आशय यह है कि— जिसको भगवान् वरण करते हैं उसकी कृपा से दूसरों को भी प्राप्त हो जाते हैं। जैसे— सीता जी की कृपा से सखियों को। कुछ लोग 'वृणुते' शब्द का प्रार्थना अर्थ मानते हैं पर वह असंगत है। क्योंकि उसका वरण अर्थ स्पष्ट है ।। श्री ।।

संगति– अब यमराज परमात्मा की प्राप्ति के विरोधियों का वर्णन करते हैं ।। श्री ।।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।२४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता! जो दुष्कर्मों से विरत नहीं है, जो शान्त नहीं है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है और दिव्य सेवक-सेव्य-भाव के ज्ञान से जिसका मन शान्त नहीं है, वह भगवान् को नहीं प्राप्त कर सकता। अथवा 'प्रज्ञानेन' पृथक् पद मान लिया

जाय तो अर्थ होगा कि— यद्यपि दुश्चरित्रादि दोषों से युक्त मनुष्य भगवान् को नहीं पाता और जो दिव्यज्ञानसम्पन्न होकर इनसे विपरीत गुणों से युक्त हो जाता है उसे भगवान् प्राप्त हो जाते हैं।। श्री ।।

संगति– अब नचिकेता ने अन्तर्जिज्ञासा की कि— आप में तो दुश्चारित्रादि दोष नहीं हैं तो क्या आप पूर्णरूप से ब्रह्म को जानते हैं ? इस पर यमराज कहते हैं—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ।।२५।।

रा०कृ०भा० सामान्यर्थ– यमराज कहते हैं— बालक ! उस ब्रह्म को मैं भी पूर्ण रूप से नहीं जानता। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चतुर्वर्ण प्रजा जिसका भात है और मृत्यु अर्थात् मैं जिसका उपसेचन अर्थात् व्यंजन हूँ, वह परमात्मा जिस साकेतलोक में विराजते हैं उसे इदमित्थं रूप से कौन जान सकता है अथवा ब्रह्म ही कुछ जान सकते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– मन्त्र के पूर्वार्ध में चकार दो बार पढ़ा गया है। इससे उत्तर वर्णों का भी उपलक्षण हो जाता है। जैसे— कोई दाल के साथ भात खाता है उसी प्रकार मुझ मृत्यु की सहायता से भगवान् सब का भक्षण अर्थात् प्रलय करके दाल की भाँति मुझे भी पी जाते हैं। इसलिए वह जिस पर कृपा करें वही उन्हें जाने।। श्री ।।

।। इति कठोपनिषद् प्रथम अध्याय की द्वितीयवल्ली पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ तृतीयवल्ली ।।

संगति– द्वितीयवल्ली में यमराज ने श्रेय एवं प्रेय की चर्चा करके पहले दो मंत्रों से परमात्मा की व्याख्या की। फिर दो मन्त्रों से जीवात्मा के स्वरूप का निर्वचन किया और फिर तीन मन्त्रों से परमात्मा के स्वरूप का अभ्यास करके एक मन्त्र से उपाय स्वरूप की व्याख्या और दो मन्त्रों से विरोधी स्वरूप की व्याख्या की। वस्तुतः यमराज ने द्वितीय वल्ली में अर्थ पञ्चक की व्याख्या की। दो मन्त्रों में परस्वरूप की व्याख्या पुनः 'न जायते' से प्रारम्भ करके दो मंत्रों में स्वस्वरूप की व्याख्या पुनः तीन मन्त्रों में फलस्वरूप की व्याख्या, एक मंत्र से उपाय स्वरूप की व्याख्या और दो मन्त्रों से विरोधी स्वरूप की व्याख्या की। इस प्रकार हमारा अर्थपंचकसिद्धान्त पूर्णरूपेण श्रौतप्रमाणित हुआ। अब जीवात्मा के साथ विराजने वाले परमात्मा का उसके साथ सम्बन्ध कैसा है ? इस मीमांसा से तृतीय वल्ली का प्रारम्भ करते हैं और पुनः रथरूपक का वर्णन करके परमात्मा की प्राप्ति में शरीर की भूमिका की भी चर्चा करते हैं।। श्री ।।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो लोग गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, शव्य, आवसथ्य इन पांचों अग्नियों की उपासना करते हैं और जिन्होंने तीन बार नाचिकेताग्नि का अनुष्ठान किया है ऐसे ब्रह्मवेत्ता महानुभाव कहते हैं कि— जो परमपरार्ध्य, अत्यन्तश्रेष्ठ साकेतलोक में सेवक-सेव्य के रूप से विराजते हैं अर्थात् परमात्मा सेव्य एवं मुक्त जीवात्मा उनकी सेवा करता है। वे ही दोनों छाया और प्रकाश की भाँति सेवक और सेव्य के रूप में ही इस मनुष्य लोक में प्राणी की हृदयगुफा में प्रवेश करके सत्कर्म के ऋत का स्वाद लेते रहते हैं। अर्थात् पान करते रहते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– मुक्तात्मा श्रीसाकेतलोक में परमात्मा श्रीराम के नित्यकैंकर्य का आनन्द लेते रहते हैं। वे ही दोनों जीवात्मा और परमात्मा हृदयगुफा में प्रवेश करते हैं। यद्यपि सत्कर्म का स्वाद जीवात्मा को मिलता है। परमात्मा कर्मफल का स्वाद नहीं लेते फिर भी यहाँ श्रुति ने पिबन्तौ शब्द का प्रयोग किया है। इसलिए जीवात्मा तो सत्कर्म के फल का स्वाद लेता है और परमात्मा न स्वाद लेते हुए अपने मित्र जीवात्मा के सुख से सुखी हो जाते

हैं। एक भगवदानन्द में मग्न और दूसरा भक्तानन्द में। यही दोनों का ऋतपान है। श्रुति ने जीवात्मा परमात्मा के लिए छाया और आतप की उपमा दी। जैसे– छाया अल्पप्रकाश वाली होती है उसी प्रकार जीवात्मा भी। छाया पुरुष का अनुगमन करती है और जीवात्मा परमात्मा का। परमात्मा आतप अर्थात् सूर्य के समान परम प्रकाशवान है। इससे भी जीव और ब्रह्म का स्वरूपत: भेद सिद्ध हुआ तथा जीवात्मा की परमात्मा से पृथक किन्तु परमात्मा के अधीन सत्ता सिद्ध हुई। छायाप्रकाश से पृथक् है किन्तु उसका अनुगमन करती है॥ श्री ॥

संगति– अब भगवती श्रुति जीवात्मा के अतिनिकट वर्तमान परमात्मा की प्रार्थना के लिए जीवात्मा को प्रेरित करती है। क्योंकि उन्होंने देख लिया कि यह जीवात्मा संसार सागर में गोते लगा रहा है, इसके सारे मनोरथ नष्ट हो गये हैं। इसी उपनिषद् के द्वितीय वल्ली में स्वयं श्रुति ने प्रवचन, मेधा तथा वेदश्रवण को भगवत्प्राप्ति में प्रमुख साधन न मान कर परमेश्वर की कृपापूर्वक स्वीकृत को ही मुख्य साधन माना। वह भगवत् कृपासुधाकादम्बिनी मुमुक्षु जीवात्मा पर कैसे बरसे और जीव में दैन्य कैसे आये ? इस पर श्रुति आज्ञा करती हैं— भगवान् से प्रार्थना करो और उस प्रार्थना का प्रकार भी कहती है॥ श्री ॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत ँ शकेमहि ॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मंत्र के दो वाक्य हैं, एक अग्नि परक और दूसरा ब्रह्म परक क्योंकि लोक में दो प्रकार के अधिकारी होते हैं— कोमल और प्रौढ़। कोमल अधिकारियों के लिए कर्मयोग तथा प्रौढ़ अधिकारियों के लिए ज्ञानयोग का विधान किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण (गीता– ३-३) में कहते हैं कि— हे अर्जुन! मेरे द्वारा ही इस लोक में अधिकारीभेद से कर्मयोगियों के लिए कर्मयोगनिष्ठा तथा ज्ञानियों के लिए ज्ञानयोगनिष्ठा, इस प्रकार दो निष्ठायें कहीं गयी हैं। इसी दृष्टि से इस मंत्र पर विचार किया जा रहा है। जो यज्ञ करने वालों का मर्यादा सेतु है, ऐसे नाचिकेताग्नि का हम अनुष्ठान करें तथा उसी के पुण्य से जो भवसागर तरने वालों के लिए अभय एवं समुद्र तट के समान है, ऐसे अविनाशी परब्रह्म का हम साक्षात्कार करें॥ श्री ॥

व्याख्या– यहाँ 'बहुलं छन्दसि' सूत्र से 'मुक्' आगम का अभाव सम्प्रसारण तथा दीर्घ हुआ। अथवा यहाँ वाक्यभेद न किया जाय तब अर्थ दूसरे प्रकार का होगा— जो यज्ञ करनेवाले महानुभावों की मर्यादा के लिए सेतु के समान है अथवा भगवद्भजन करने वाले, संसार सागर से तरने की इच्छा करनेवाले, महानुभावों के लिए सेतु के समान है तथा जो 'अक्षर' अर्थात् अविनाशी एवम् 'अक्ष' अर्थात् इन्द्रियों को गति देने वाला तथा ज्ञानवैराग्यरूप दिव्यनेत्र प्रदान करने वाला है तथा जो अभय एवं सागर के तट के समान डूबने वालों का आश्रयदाता और सर्वश्रेष्ठ है, ऐसे नचिकेता द्वारा उपास्य सर्वसमर्थ परब्रह्म परमात्मा का हम साक्षात्कार करें।। श्री ।।

संगति– बुभुक्षु और मुमुक्षु भेद से जीव दो प्रकार के होते हैं। बुभुक्षु संसार को प्राप्त होते हैं और मुमुक्षु भगवान् को। जैसे दूर का मार्ग तय करने के लिए रथ, सारथि, रथी, घोड़े, लगाम और घास की अपेक्षा होती है, उसी प्रकार भगवान् के सुदूरवर्ती धाम को प्राप्त करने के लिए भी उनकी अपेक्षा है और इसीलिए नौ मन्त्रों में भगवती श्रुति रथरूपक वर्णन कर रही हैं। पहले दो मन्त्रों में रथ के प्रमुख अंगों का वर्णन किया जाता है।। श्री ।।

आत्मान ँ रथिनं विद्धि शरीर ँ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।३।।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया ँ स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! परमार्थपथ पर जाने के लिए इस जीवात्मा को ही रथी समझो। शरीर ही इसका रथ है। इसी शरीररूप रथ पर आरूढ़ होकर यह जीवात्मा यात्रा कर रहा है। बुद्धि को इसका सारथि समझो, आत्मा के निर्देश पर बुद्धि ही शरीर को चलाती है। मन ही इसकी लगाम है। महापुरुष लोग दशों इन्द्रियों को ही शरीररूप रथ के घोड़े कहते हैं और उनमें विराजमान विषयों को ही गोचर अर्थात् घोड़े शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप घासों को खाते हैं। इस प्रकार आत्मा अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन इन तीनों से युक्त जीवात्मा को ही मनीषी लोग भोक्ता कहते हैं। यहाँ मनशब्द से बुद्धिशब्द का उपलक्षण समझना चाहिए। भाव यह है कि— जब जीवात्मा शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से ऊपर उठ जाता है तब यह भोक्ता नहीं कहलाता।। श्री ।।

संगति– यद्यपि भगवान् ने अपने तक पहुँचने के लिए सभी जीवात्माओं को समानरूप से शरीररूप रथ, बुद्धिरूप सारथि, मनरूप लगाम तथा इन्द्रियरूप घोड़े दिये। तथापि बहुत कम लोग इस दुर्गम मार्ग को पार कर पाते हैं। तरते हैं बहुत कम, मरते हैं बहुत अधिक। शरीररूप, रथ में बहुत से दोष आ जाते हैं। इन्द्रियरूप घोड़े चञ्चलता के कारण बुद्धिसारथि के नियंत्रण से बाहर हो जाते हैं। इस पर श्रुति कहती हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येद्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ।।५।।

रा०कृ०भा० सामन्यार्थ– हे नचिकेता! जिस शरीर-रथ का बुद्धि रूप सारथि अपवित्र है और मन रूप लगाम ढीली है उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार वश में नहीं रहती जैसे दुष्ट घोड़े असावधान सारथि के नियन्त्रण से बाहर हो जाते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– 'विज्ञान' शब्द बुद्धि का पर्यायवाची है। 'अपवित्रं विज्ञानम् अविज्ञानम्' अपवित्र बुद्धि को ही अविज्ञान कहते हैं। अविज्ञानवान् शब्द का 'मतुप्प्रत्यय' निन्दा अर्थ में है अर्थात् जिस शरीर में निन्दित तथा अपवित्र बुद्धि निवास करती है तथा मन अयुक्त है, अर्थात् जिसके मन में परमात्मा प्रेम की समाधि नहीं है वह इन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। जैसे मद्यपायी सारथि अपने घोड़ों को वश में नहीं कर पाता। इसलिए वर्णाश्रम अधिकार के अनुसार गायत्री अथवा रामनामजप से बुद्धि को शुद्ध कर लेना चाहिए।। श्री ।।

संगति– अब इसके विपरीत शुद्धबुद्धि का परिणाम कहते हैं।। श्री ।।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।।६।।

रा०कृ०भा०सामन्यार्थ– जिसकी बुद्धि पवित्र है तथा मन नियंत्रित, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार वश में रहती हैं जैसे चतुर सारथि के नियंत्रण में उसके श्रेष्ठ घोड़े।। श्री ।।

व्याख्या– 'विज्ञानवान्' शब्द में प्रशंसा में मतुप् प्रत्यय हुआ है।। श्री ।।

संगति– यहाँ प्रश्न उठता है कि— साधनों के न होने पर भी क्या साधक अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकता? इस पर कहते हैं।। श्री ।।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सँ्सारं चाधिगच्छति ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिसकी बुद्धि अशुद्ध है तथा मन अनियन्त्रित है, ऐसा निरन्तर अशुचि कर्म करने वाला पथिक परमात्मा को नहीं पाता बल्कि जन्म-मृत्युमय संसार में चला जाता है। संसार का अर्थ है— जो धीरे-धीरे सरकता हो। 'शनैः सरति इति संसारः' यहाँ प्रसोदरादित्वात् 'श' के स्थान पर दन्त्य 'स' और शनैः में ऐशखण्ड का लोप हो गया। अथवा 'सर्वे सरंति यस्मिन्' जहाँ राजा और रंक सभी समान रूप से जन्मते और मरते हैं वही संसार है। पापी लोगों का वही अधिकार है ।। श्री ।।

संगति– इस संसार का पार कौन करता है ? इस पर कहते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिसकी बुद्धि परमेश्वरशरणागति से पवित्र एवं जिसका मन भगवद्ध्यान से नियन्त्रित है, वह उस पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से फिर वह संसार में जन्म नहीं लेता ।। श्री ।।

संगति– अब निष्कर्ष कह रहे हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं तदम् ।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो बुद्धिरूप सारथि से सम्पन्न हो तथा जिसके पास मन की लगाम बहुत प्रशस्त और नियन्त्रित है, ऐसा संसार के भोगों में न रमने वाला साधक इस संसार के दुर्गममार्ग को पार करके, विलक्षण परमपद को प्राप्त कर लेता है ।। श्री ।।

व्याख्या– जो सर्वव्यापक है उसे विष्णु कहते हैं। 'वेवेष्टि इति विष्णुः' भगवान् साधन के बिना ही दीनों पर पिघल जाते हैं। इसलिए वे विष्णु हैं। 'विशेषेण नौति इति विष्णुः' विष्णु के द्वारा भी श्रीराम को प्रणाम किया जाता है। 'विशानूयते इति विष्णुः'। 'परम' शब्द का अर्थ है श्रेष्ठ अथवा आचार्यरूप में तथा जगज्जननी के रूप में परशक्तिरूपा माँ सीताजी विराजती हैं उस साकेत को ही परम कहते हैं ।। श्री ।।

संगति– अब दो मन्त्रों से साधकों को आश्वासन देने के लिए इन्द्रिय, विषय, मन, बुद्धि, जीवात्मा, योगमाया और परमात्मा इन सातों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा परो महान्॥१०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥११॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! चक्षुरादि दशों इन्द्रियों से शब्द आदि विषय श्रेष्ठ तथा सूक्ष्म हैं। विषयों से मन, मन से बुद्धि तथा बुद्धि से परमपूज्य प्रत्यगात्मा श्रेष्ठ है। पूजनीय प्रत्यगात्मा से अव्यक्त भगवान् की योगमाया श्रेष्ठ है और योगमाया से परमपूज्य परमात्मा श्रेष्ठ हैं। परमेश्वर से श्रेष्ठ और सूक्ष्म और कोई नहीं है। वे ही सबकी सीमा वे ही सबके गन्तव्य हैं॥ श्री॥

व्याख्या– इन दोनों मन्त्रों में प्रयुक्त 'पर' शब्द श्रेष्ठता, सूक्ष्मता और अधिकता का वाचक है। इसलिए इस स्थल में सात बार उच्चरित पंचमी ल्यब् लोप में है तरप् प्रत्यय में नहीं। आत्माशब्द अनेकार्थक है। यहाँ कोई इसे अहंकारादि अर्थों में न समझ ले इसलिए महान् विशेषण दिया गया। यद्यपि सांख्यशास्त्र में महान् शब्द का बुद्धि के अर्थ में प्रयोग हुआ है। परन्तु यहाँ बुद्धि से परे कह कर श्रुति ने स्वयं इसे आत्माशब्द का विशेषण माना है। इन्द्रियों की अपेक्षा विषय इसलिए सूक्ष्म और श्रेष्ठ है क्योंकि उन्हीं के द्वारा यह हठात् संसार में खींच ली जाती है। जैसे श्रवण शब्द को नहीं खींचता बल्कि शब्द ही श्रवण को खींच लेता है। विषयों से मन श्रेष्ठ है क्योंकि वही शब्दादि को इन्द्रियों के यहाँ भेजता है। मन से भी बुद्धि सूक्ष्म है क्योंकि वही सारथि की भूमिका निभा कर मन को लगाम की भाँति पकड़े रहती हैं। बुद्धि से श्रेष्ठ है पूज्यनीय जीवात्मा। वह रथी है उसी के निर्देश पर बुद्धि व्यवहार में प्रवृत्त होती है। जीवात्मा से भगवान् की योगमाया श्रेष्ठ है और योगमाया से श्रेष्ठ हैं भगवान्। इस प्रकरण में श्रुति ने जीवात्मा का परमात्मा के साथ स्वरूपतः भेद ही नहीं स्पष्ट किया बल्कि व्यवधान के साथ भेद स्पष्ट किया जैसे— पिता-पुत्र के बीच में माँ। इसी अव्यक्त से मोहित होकर जीवात्मा भगवान् को भूलता

है। यह बात दुर्गासप्तशती में सुमेधा ऋषि महाराज सुरथ और समाधि वैश्य से कहते हैं। यही महामाया आकृष्ट करके मोह को सौंप देती है। श्रीमानस में गरुड़ जी से नारद जी कहते हैं—

जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरियाई विमोह मन करई।।

—(मानस ७-५९-५)

यही भगवद्विमुखों को मोह तथा भक्तों को मोक्ष देती है। श्रीरामायण में भी लक्ष्मणरूप जीवात्मा तथा श्रीरामरूप परमात्मा के मध्य अव्यक्त योगमायारूप श्रीसीता जी विराजती हैं। जैसे—

आगे राम अनुज पुनि पाछें। मुनि बर वेष बने अति काछें।।
उभय बीच सिय सोहई कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी।।

—(मानस ३-७-२, ३)

संस्कृत में पुरशब्द शरीर का वाचक है। प्रत्येक पुर अर्थात् शरीर में उ अर्थात् निश्चय ही 'श' अर्थात् शयन करने के कारण भगवान् को पुरुष कहते हैं। इसलिए उन परमेश्वर की शरणागति ही जीव का परम कर्त्तव्य है।। श्री।।

संगति— नचिकेता फिर अन्त:प्रश्न करते हैं कि— यदि परमात्मा सभी के गन्तव्य हैं तो हम लोगों को दिखाई क्यों नहीं पड़ते? इस पर कहते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— वे परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियों में विराजमान होते हुए भी अपने स्वरूप को छिपा लेने के कारण नहीं प्रकाशित होते। किन्तु पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों की परम्परा के अनुसार सूक्ष्म दर्शन करने वाले साधकों द्वारा भगवत्साधना में अग्रसर बुद्धि की सहायता से भगवान् साक्षात्कृत कर लिये जाते हैं। अर्थात् देख लिए जाते हैं। यहाँ 'प्रसरोदरादित्वात्' वर्णविपर्यय से 'गूढोत्मा' शब्द सिद्ध होता है।। श्री।।

संगति— अब भगवान् के दर्शनों में साधन का प्रकार कहते हैं।। श्री।।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता। बुद्धिमान् को चाहिए कि वह अपनी वाणी से उपलक्षित सभी वाणियों इन्द्रियों को मन में विलीन कर दे। क्योंकि वह इन्द्रियों से सूक्ष्म है और उस मन को आत्मपर्याय भगवद्ज्ञानसम्पन्न बुद्धि में अर्पित कर दे। तथा उस बुद्धि को महान् आत्मा में विलय कर दे। और उस अपनी प्रत्यगात्मा को भी शान्तभाव से उस परमपिता परमात्मा में विलीन कर दे।। श्री ।।

संगति– नचिकेता में ही सम्पूर्ण प्राणियों का भावन करते हुए यमराज सभी के लिए उपदेश करते हैं।। श्री ।।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे प्राणियो! अब शय्या त्यागकर उठो और जग जाओ महापुरुषों को प्राप्त करके उन्हीं से अपना करणीय और अपना भजनीयतत्व जान लो। भूमि में गड़ी हुई नुकीली छुरी की धार की भाँति ब्रह्म का पथ बहुत दुर्गम है। उसे क्रान्तदर्शी महात्मा ही बताते हैं।। श्री ।।

व्याख्या– कुछ लोग विस्तर छोड़ने पर भी सोते रहते हैं और बहुत से लोग तो सोते-सोते दो-चार किलोमीटर चले जाते हैं। उनके लिए श्रुति ने कहा— 'जाग्रत'। अर्थात् केवल उठना प्रर्याप्त नहीं है जगना भी होगा। कुछ लोग उठ कर सोते रहते हैं और कुछ लोग जगकर भी विस्तर पर पड़े रहते हैं। अध्यात्म में भी कुछ लोग घर छोड़ देते हैं पर उन्हें भगवत्तत्व का ज्ञान नहीं हो पाता। कुछ लोगों को ज्ञान होता है तो उन्हें विषयों से वैराग्य नहीं होता। इसलिए उत्थान और जागरण अर्थात् वैराग्य एवं ज्ञान दोनों आवश्यक है। 'वरान्' जगकर केवल बैठे मत रहो। महापुरुषों के चरणों में बैठ कर कर्त्तव्य का बोध करो। क्योंकि छुरी की धार के समान यह परमार्थ मार्ग बहुत दुर्गम है जैसा कि गोस्वामी जी मानस में कहते हैं—

ग्यान पंथि कृपान कै धारा। परत खगेस होई नहि बारा।।

संगति– नचिकेता जिज्ञासा करते हैं कि— वह ब्रह्मपद इतना दुर्गम क्यों है? इस पर यमराज कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥१५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! प्राकृत शब्द, रूप, रस,गन्ध से रहित और दिव्य तथा अव्यक्त, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से युक्त, आदि अन्त से रहित, महान् जीवात्मा से भी परे, अविनाशी तथा सदा स्थिर रहने वाले उस परब्रह्म परमेश्वर को जान कर साधक मृत्यु के मुख से भी मुक्त हो जाता है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ 'अ' शब्द निषेध एवं अव्यक्त अर्थ में प्रयुक्त है। भगवान् यद्यपि संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस से रहित हैं तथापि उनमें दिव्य शब्दादि तो हैं ही। इसलिए श्रुति ने उन्हें सर्वरसः सर्वगन्धः कहा। जो सभी रसों और गन्धों से युक्त हो भला वह शब्दादि से रहित कैसे रह सकता? इसलिए अशब्दपद का समास होगा 'अव्यक्तः शब्दः यास्मिन्।' इसी प्रकार अस्पर्श, अरूप, अरस तथा अगन्धवत् शब्दों में भी जानना चाहिए॥ श्री॥

संगति– अब दो मंत्रों में इस आख्यान की फलश्रुति कही जाती है॥ श्री॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥१६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– मृत्यु अर्थात् यमराज द्वारा कहे हुए नचिकेता सम्बन्धी इस ब्रह्मविद्यामय सनातन आख्यान को गुरुमुख से सुन कर और अधिकारी प्रशिष्य कह कर, अपनी मेधा से हृदय में धारण करके ब्रह्मलोक में भगवत् पार्षदों द्वारा पूजित होता है॥ श्री॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो व्यक्ति इस परमगोपनीय नचिकेतायम-संवाद को मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध होकर ब्रह्मवेत्ताओं की सभा में तथा पितरों के श्राद्ध काल में श्रवण कराता है, उसे अनन्त परमात्मा के प्राप्ति की योग्यता मिल जाती है और वह अक्षयफल के योग्य हो जाता है॥ श्री॥

॥ इति कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की तृतीयवल्ली पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

●

।। द्वितीय अध्याय ।।

।। अथ प्रथम वल्ली ।।

सम्बन्ध– नचिकेता के तृतीय वरदान के आधार पर ही यमराज ने दो वल्लियों में आत्मतत्व का उपदेश किया। नचिकेता संतुष्ट भी हो गये। इसलिए 'नाचिकेतमुपाख्यानम्' कह कर दो मन्त्रों में फलश्रुति भी कह दी गयी। परन्तु अभी उपनिषद् का विश्राम नहीं हुआ। यद्यपि ईशावास्य, माण्डूक्य आदि उपनिषदों की भाँति कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय को भी आख्यान निरपेक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। तथापि नचिकेता के आख्यान से भी इसकी संगति लगाई जा सकती है। यहाँ नचिकेता का अन्तर्प्रश्न है कि— ब्रह्म के अप्राकृतिक शब्दादि को भी हमारी इन्द्रियाँ क्यों नहीं ग्रहण कर सकती ? दूसरी ओर उस ब्रह्म का निचायन कैसे हो सकता है। हम ब्रह्म की उपासना कैसे करें ? इन प्रथमअध्याय के विषयों के आधार पर उठने वाले प्रश्नों के समाधानार्थ द्वितीयअध्याय का प्रारम्भ होता है। वस्तुतस्तु द्वितीय अध्याय को आख्यान निरपेक्ष मानना ही उचित होगा। क्योंकि फलश्रुति के पश्चात् ग्रन्थ का समापन आर्षमर्यादा है। श्रुतियाँ किसी आख्यान की अपेक्षा नहीं करती। इसलिए नचिकेतोपाख्यान के पश्चात् भी ब्रह्मविद्योपयोगी मन्त्रराज की उपस्थिति से कोई मर्यादाभंग नहीं हुआ। वास्तव में कठोपनिषद् में दो उपाख्यान हैं प्रथम आख्यान सापेक्ष और द्वितीय आख्यान निरपेक्ष। इतिहास आदि में कथावस्तु की समाप्ति फलश्रुति सापेक्ष मानी गयी है, श्रुतियों में नहीं ।। श्री ।।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– परमेश्वर ने इन्द्रियों को स्वाभाव से बहिर्मुख बनाया, इसीलिए इन बहिर्मुख इन्द्रियों से वह संसार के विषयों को ही देखता है। आत्मा के साथ हृदयगुफा में रहने वाले परमात्मा भगवान् को नहीं देखता। कोई विरला धीरपुरुष ही अमृतत्व की इच्छा करते हुए संसार

के विषयों से अपनी इन्द्रियों को मोड़ कर उस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है ।। श्री ।।

व्याख्या– 'ख' शब्द का इन्द्रिय अर्थ होता है। भगवान् के द्वारा ही इन्द्रियां ऐसी बनायी गयी हैं जो बहिर्मुख विषयों का ही चिन्तन करती हैं। इसलिए प्राणि अन्तरात्मा भगवान् को नहीं देख पाता। 'ऐक्षत्' यहाँ पर व्यत्यय से वर्तमान के अर्थ में लङ्लकार हुआ है ।। श्री ।।

संगति– अब आसक्ति और अनासक्तियों की विलक्षणता का वर्णन करते हैं ।। श्री ।।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– श्वास धारण करना ही जिनका प्रयोजन है ऐसे मूर्ख लोग संसार के भोगों का अनुगमन करते हैं। इसलिए सर्वत्र फैले हुए यम के बन्धन में पड़ जाते हैं। इससे विपरीत धीरजन मानवधर्म रहित भगवान् को जान कर क्षणभङ्गुर संसार के भोगों में परमात्मा को नहीं मानते ।। श्री ।।

व्याख्या– 'अध्रुवेषु' यहाँ निमित्त अर्थ में सप्तमी हैं। अर्थात् तुच्छ संसार की कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना नहीं करते। उनसे तो केवल उनका प्रेम ही प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं। जैसा कि श्रीरामचरितमानस में श्रीभरत ने प्रयाग से मांगा था—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहँउ निर्वान ।
जनम-जनम रति रामपद यह वरदान न आन ।।

—*(मानस २-२०४)*

संगति– अब भगवान् की ज्ञानकरणता का प्रतिपादन करते हैं ।। श्री ।।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस परमात्मा की चेतना से यह प्राणी रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गन्ध एवं गृहमेधीय सुखों को ठीक-ठीक जानता है, वह इसी अतिनिकटवर्ती परमात्मा की ही चेतना है। इस परमात्मा के अतिरिक्त यहाँ क्या अवशेष रहता है। यह वही है ।। श्री ।।

व्याख्या– सबको भगवान् से ही चेतना मिली है। जैसा कि श्रीरामचरित मानस में भगवान् शंकर कहते हैं—

विषय करन सुर जीव समेता, सकल एक ते एक सचेता।
सबकर परम प्रकाशक जोई, राम अनादि अवधपति सोई।।

संगति– मन्त्रों में आलस्य नहीं होता इसलिए फिर ब्रह्मतत्व का अभ्यास करते हैं।। श्री।।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस परमात्मा के द्वारा ही, स्वप्न जिसका अन्त है ऐसा सूक्ष्मशरीर तथा जाग्रत् अन्त वाले स्थूलशरीर, इन दोनों को तथा स्वप्न और जाग्रत् के अन्त को अनुक्षण साक्षात्कार करता रहता है। ऐसे परमपूज्यनीय परमात्मा का चिन्तन करके धीरपुरुष शोकमुक्त हो जाता है।। श्री।।

व्याख्या– जब साधक स्वप्न की संधि देख लेता है तब उसे भगवत् साक्षात्कार हो जाता है।। श्री।।

संगति– अब ब्रह्मज्ञानी की प्रसंशा करते हैं।। श्री।।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो कर्मफल देने वाले एवं मोहमदिरा का खण्डन करने वाले तथा भक्तों को भजनानन्द देने वाले, भूत और भविष्यत् के शासक ऐसे सबके जीवनदाता परमात्मा को अत्यन्त निकट से जानता है, वह किसी से घृणा नहीं करता।। श्री।।

व्याख्या– 'मध्व' शब्द के कर्मफल, मद तथा भजनानन्द ये तीन अर्थ कहे जाते हें। 'जीवमन्तिकात्' शब्द की तीन प्रकार से व्याख्या होगी। प्रथम– जो जीव के निकटवर्ती परमात्मा को जानता है वह निन्दितकार्य नहीं करता। द्वितीय– 'जीव' शब्द परमात्मा का विशेषण है और यहाँ णिजन्त से कर्त्ता में अच् प्रत्यय हुआ। 'जीवयतीति जीव:' अर्थात् परमात्मा ही जीवों के जीवनदाता हैं। तृतीय व्याख्या में 'जीव' शब्द षष्ठ्यन्त है। यहाँ 'सुपां सुलुक्' सूत्र से ङस् को सु और उसे अम् आदेश हुआ। इस

मन्त्र में ब्रह्म और जीव का स्वरूपतः भेद बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है। क्योंकि छोटा सा जीव भूत और भविष्यत् का शासक नहीं बन सकता। यह तो परमात्मा का ही कार्य है॥ श्री॥

संगति– श्रुति फिर ब्रह्म का अभ्यास कर रही है। क्योंकि उसे भगवान् के गुणगान में आलस्य नहीं आता॥ श्री॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद्वै तत्॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो पहले ब्रह्म के संकल्प से उत्पन्न हुआ एवं जलादि पञ्चभूतों से प्रथम संसार में आया ऐसे शरीर की हृदयगुफा में प्रवेश करके, सभी भूतेन्द्रिय देवताओं के साथ वर्तमान जीवात्मा को जिसने मित्र भाव से देखा, वही यह परमात्मा है॥ श्री॥

व्याख्या– सृष्टि के पहले संसार में भगवान् जीव को ही भेजते हैं। और जलादि से पहले वही हिरण्यगर्भ के रूप में उत्पन्न होता है। 'भूतेभिः' यहाँ 'बहुलं छन्दसि' सूत्र के आधार पर भिष् को ऐष् नहीं हुआ॥ श्री॥

संगति– ईश्वर आनन्दमय है इसलिए श्रुति फिर उनका अभ्यास करती हैं॥ श्री॥

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत्॥७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो सबकी जीवनदाता जीवात्मा के साथ ही 'सम्भवति' अर्थात् प्रत्येक शरीर में प्रवेश करती है, जिसमें समस्त देवताओं का निवास है तथा जो प्राणियों के साथ विशेष रूप से जन्म लेती है अर्थात् जीवात्मा जिस-जिस योनि में जन्म लेता है वहाँ-वहाँ परमात्मा की सत्ता होती ही है। ऐसे जीवात्मा के साथ हृदयगुफा में प्रवेश करके अदिति यानि अखण्डनारीरूप भगवान् की अन्तर्यामी मूर्ति विराजती हैं यह वह ब्रह्म ही है॥ श्री॥

व्याख्या– यहाँ श्रुति ने भगवान् को नारीरूप में प्रस्तुत किया है। 'दिति' का अर्थ होता है खण्ड। ब्रह्म में खण्ड नहीं है इसलिए उन्हें अदिति कहते हैं। यहाँ हम एक चामत्कारिक अर्थ प्रस्तुत करते हैं— वस्तुतः यह मन्त्र भगवती की व्याख्या है। यहाँ प्राण का अर्थ है भगवान् राम। 'व्याजयत' का अर्थ है विशिष्ट जन्म लेना। सब लोगों का जन्म

गर्भसापेक्ष होता है पर सीताजी का प्राकट्य गर्भनिरपेक्ष है। वे तो पृथ्वी से प्रकट होती हैं। इस पक्ष में इस मंत्र का अक्षरार्थ देखिये। 'या प्राणेन सम्भवति' जो भगवती सीता अपने प्राणपति प्रभु श्रीराम के साथ उन्हीं से अभिन्नरूप में जनकपुर में अवतरित होती हैं। 'व्याजायत' जो विशिष्टरूप से पृथ्वी को फाड़ कर प्रकट होती हैं। 'अदितिः' जो अखण्ड हैं। अर्थात् अग्नि की ज्वाला भी जिसके शरीर को जला नहीं सकी एवं रावण जैसा दुर्दान्त भी जिनके चरित्रशरीर का खण्डन नहीं कर पाया। ऐसी देवतारूपिणी 'गुहां प्रविष्य' चित्रकूट की गुफा में प्रवेश करके, 'भूतेभिः' देदीप्यमान मुनि-पत्नियों के साथ 'तिष्ठन्तीम्' अपनी पर्णशाला में विराजती हैं। ऐसी सीता जी के रूप में विराजमान यह अलौकिक विग्रह वही ब्रह्म है॥ श्री॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वै तत्॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार गर्भिणी महिलाओं द्वारा गर्भाधानसंस्कार क्रिया से गर्भ धारण किया जाता है उसी प्रकार दोनों अरणियों के ऊपर विधिवत् संस्थापित, प्रतिदिन जागरूक हविष्य से युक्त मनुष्यों द्वारा निरन्तर स्तुति किये जाते हुए, जो अग्नि हमारे प्रत्यक्ष हो रहे हैं यह वही ब्रह्म है, क्योंकि अग्नि भगवान् की विभूति हैं। अथवा जो अग्नि के समान प्रकाशमान हैं यह वही ब्रह्म हैं॥ श्री॥

संगति– अब सूर्य नारायण के उदयास्त का कारण बताते हुए श्रुति ब्रह्म की महिमा का वर्णन करती हैं॥ श्री॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता। सूर्य नारायण जिससे उदित होते हैं और जिसमें निरन्तर अस्त हो जाते हैं अर्थात् जिसके भय से सूर्य नारायण भी डरते हैं, समस्त देवता आज्ञापालन के लिए अपनी शक्तियों सहित उन्हीं के चरणों में अर्पित रहते हैं, उन महाविष्णु परब्रह्म भगवान् राम के आदेश का ब्रह्मादि देवताओं में कोई भी उल्लंघन नहीं करता और उनका कोई अतिक्रमण भी नहीं करता॥ श्री॥

संगति– अब श्रुति भगवान् की सर्वव्यापकता का तथा उनके नानात्व निषेध का निर्वचन करती हैं॥ श्री॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।।१०।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! जो ब्रह्म यहाँ अर्थात् संसार के प्रत्येक पदार्थ में अन्तर्यामीरूप में विराजमान है, वही ब्रह्म अमुत्र अर्थात् परमव्योमरूप साकेतलोक में भी विराजमान हैं। दोनों रूपों में कोई अन्तर नहीं है तथा जो ब्रह्म उस साकेत में है वही अनुकूल रूप से सभी जीवों के हृदय निकेत में भी रहता है। जो यहाँ हृदयविहारी ब्रह्म तथा साकेतविहारी ब्रह्म में 'नानेव पश्यति' अर्थात् अनेकता का दर्शन करता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् सदैव जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।। श्री।।

संगति– उसी ब्रह्म में अनन्य निष्ठा उत्पन्न करने के लिए यमराज नचिकेता से फिर कहते हैं—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह ब्रह्म मन से ही प्राप्त किया जा सकता है। इस लोक में जो भी घट-पट, नदी, तालाब आदि से दीख रहा है वह एक ब्रह्म का ही रूप है। वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त होता है जो यहाँ नाना जैसा देखता है।। श्री।।

व्याख्या– भगवान् सांसारिक कामनाओं का खण्डन करते हैं इसलिए उन्हें 'इदं' कहा गया। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस शब्दखण्ड का इतना ही तात्पर्य है कि— भले ही घट-पट आदि अनेक रूप दीखते हों परन्तु रूपवान् ब्रह्म तो एक ही हैं। इस व्याख्या से अद्वैतवादियों का मत निरस्त हुआ। उनके मत में यहाँ ब्रह्म के अतिरिक्त सभी सत्ताओं का निषेध है। परन्तु ध्यान से देखा जाय तो उनका पक्ष बिल्कुल असंगत है। क्योंकि यहाँ ब्रह्म की चर्चा प्रस्तुत है। इसीलिए उसी के नानात्व का निषेध है न कि जीव और ब्रह्म के भेद का। इसी मंत्र में जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट है। यहाँ दो बिन्दुओं पर विचार किया जा रहा है। मन्त्र के प्रथम चरण में श्रुति कहती है— ब्रह्म को मन से ही प्राप्त किया जा सकता है। 'मनसैवेदमाप्तव्यं' यहाँ 'आप्तव्यं' शब्द 'आप्लृ धातु' से कर्म में तव्यत् प्रत्यय करके बना है। यहाँ ब्रह्म कर्म है और कर्त्ता के बिना वह सिद्ध नहीं

हो सकेगा इसलिए प्राप्त क्रिया से कर्त्ता का आक्षेप किया जायेगा। वह कर्त्ता जीवात्मा ही होगा दूसरा नहीं। इसी से जीवात्मा परमात्मा का भेद सिद्ध हुआ। क्योंकि एक ही व्यक्ति में एक ही क्रिया के कर्तृत्व तथा कर्मत्व का गुण नहीं आ सकता। इसलिए 'किञ्चन' का प्रयोग भी यही कह रहा है कि— यहाँ ब्रह्म की अनेकता का निषेध है। दूसरी बात यह भी है कि— श्रुति के मत में साधक ब्रह्म को मन से प्राप्त कर सकता है। यदि जीव ब्रह्म ही होता तो श्रुति यहाँ 'मनसा' शब्द का प्रयोग न करती क्योंकि सौभाग्य से ब्रह्म के पास मन है ही नहीं। 'अप्राणो ह्यमनाशुभ्रः' श्रुति कहती हैं कि परमेश्वर के पास प्राण और मन ये दोनों ही नहीं हैं। मन तो जीवात्मा के पास ही हैं। अतः मनसा शब्द के प्रयोग से भी श्रुति ने जीवात्मा और परमात्मा का भेद कह दिया। 'किं बहुना' आगे श्रुति कहती हैं— जो नाना के जैसा देखता है वह जन्म-मरण को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अनेकत्व की बात दूर रही श्रुति ब्रह्म के अनेक जैसे को भी नहीं सहन करती। भागवत के द्वितीय स्कन्ध में स्मरण के लिए सादृश्य है और वस्तुतः वहाँ सादृश्य की चर्चा नहीं बल्कि भगवान् के विराट् रूप की चर्चा है॥ श्री॥

संगति— अब पहले कहे हुए भगवत् स्मरण में सहायक सादृश्य का विस्तार कर रहे हैं॥ श्री॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ— हे नचिकेता! सब प्रकार से परिपूर्ण पुरुषाकृति भगवान् अंगूठे के जैसे आकार से शरीर के मध्य में विराजते हैं। भूत और भविष्यत् के साथ-साथ परमात्मा को जान कर साधक किसी से घृणा नहीं करता। यह वही ब्रह्म है॥ श्री॥

व्याख्या— 'अंगुष्ठं परिमाणं यस्य स अगुष्ठमात्रः'। यहाँ प्रमाण अर्थ में मात्रच् प्रत्यय हुआ। अर्थात् भगवान् अंगूठे के समान रूप बना कर हृदय में विराजते हैं। **प्रश्न-** कहा जाता है कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में भगवान् होते हैं और यहाँ भगवान् का आकार अंगूठे के प्रमाण में बताया गया। जबकि बहुत से ऐसे जीव हैं जो अंगूठे से बहुत छोटे हैं। तो उनके हृदय में भगवान् कैसे रहते हैं? **उत्तर-** श्रुति मानव को उपदेश कर रही

है। क्योंकि परमार्थ का वही अधिकारी है। अत: श्रुति ने मानव के हृदय में विराजने वाले भगवान् का आकार अगूठे जितना बताया॥ श्री॥

अन्य जन्तुओं के हृदय में भगवान् उन्हीं के शरीर के अनुसार रह लेते हैं। क्योंकि भगवान् अणु से भी अणु हैं। अथवा यह वाक्य जीवात्मा के लिए कहा गया है और शास्त्र में जीवात्मा की आकृति मानव जैसी ही बतायी गई हैं। अत: जीवात्मा प्रत्येक प्राणी के शरीर में उसी के शरीर के अनुसार अपना छोटा बड़ा शरीर बना कर रह लेता है। और उसी जीवात्मा के हाथ के अगूठे जैसा स्वरूप प्रकट करके भगवान् भी उसके साथ रह लेते हैं। जब चींटी के हृदय में भी जीवात्मा को उससे भी छोटे आकार में रहना है तो भगवान् उसी के अंगूठे के जितने आकार में रहेंगे। जब जीवात्मा हाथी के शरीर में बड़े आकार में रहता है तब भगवान् भी उसी के अनुसार आकार बनाकर वहाँ रह लेते हैं॥ श्री॥

संगति– अब अंगुष्ठप्रमाण वाले पुरुष की सर्वव्यापकता और व्यवधान रहित प्रकाशकत्व का वर्णन कर रहे हैं॥ श्री॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत्॥१३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– धूमरहित ज्योति की भाँति अबाधित प्रकाशवाले, अँगूठे जितने प्रमाण वाले तथा भूत और भविष्यत् के नियामक परमात्मा सब ओर से परिपूर्ण हैं। वे ही आज हैं और वे ही कल भी रहेंगे। ज्योति शब्द यद्यपि नपुंसक लिंग में पठित है तथापि 'अधूमक:' शब्द पुरुष का विशेषण होने से पुंलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। ऐसा कुछ लोगों का मानना है। वास्तव में तो 'अधूमक:' शब्द 'ज्योति' का ही विशेषण है। फिर भी 'व्यत्ययो बहुलं' सूत्र से यहाँ लिङ्ग का व्यत्यय हुआ है। अत: नपुंसक लिङ्ग के स्थान पर पुंलिङ्ग का प्रयोग हुआ है॥ श्री॥

संगति– अब परमात्मा में अनेकता देखने वालों की दुर्दशा का वर्णन करते हैं॥ श्री॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति॥१४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार दुर्गम अर्थात् ऊँचे स्थान में मेघ द्वारा वर्षा हुआ जल निचले स्थानों में विकृत होकर बह जाता है, उसी

प्रकार परमात्मा से अतिरिक्त आराध्यसत्ता की कल्पना करता हुआ प्राणी विकृत योनियों में पड़ कर आवागमन के चक्कर में पड़ जाता है ।। श्री ।।

व्याख्या– संसार के सभी धर्म परमात्मा में हैं। परमात्मा से पृथक धर्मों की कल्पना जीव की दुर्गति का कारण बनती है। वस्तुतः यही श्रुति शंकराचार्य के निर्धर्मवाद का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है। उनके मत में जब ब्रह्म में कोई धर्म ही नहीं है तो सभी धर्म ब्रह्म से पृथक सिद्ध हुए। धर्मों को ब्रह्म से पृथक् देखने पर श्रुति के अनुसार दुर्गति अनिवार्य है। अतः निर्विशेषवाद श्रौत नहीं है। यह बौद्धों के शून्यवाद का एक पर्यायवाची है। मानसकार ने भी कहा है—

भूमि परतभा ढ़ाबर पानी। जनु जीवहि माया लपटानी ।।

संगति– अब विरुद्ध चिन्तन के सम्पर्क से सम्भावित मलिन परिणामों की चर्चा करके शुद्धब्रह्म के चिन्तन का परिणाम कहते हैं ।। श्री ।।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ।।१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे गौतम वंशवर्धन! वाजस्रवस् उद्दालक के सुयोग्य पुत्र नचिकेता! जिस प्रकार निर्दोष गंगाजल में पधराया हुआ शुद्ध जल शुद्ध ही रहता है उसी प्रकार परमात्मा को अपने स्वामी के रूप में जानते हुए मननशील साधक का आत्मा भी शुद्ध हो जाता है। 'आत्मा भवति' पद के साथ शुद्धशब्द का अध्याहार कर वाक्य बना कर परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा शुद्ध हो जाता है ऐसा अर्थ समझ लेना चाहिए। 'आत्मा भवति' का दूसरा भी एक अर्थ है— जैसे आकाश से वर्षा हुआ जल गंगाजल में गिर कर गंगाजल जैसा हो जाता है उसी प्रकार समस्त धर्मों को परमात्मा में देखते हुए मननशील महात्मा का आत्मतत्व परमात्मामय हो जाता है। अर्थात् उस महात्मा में जगत् व्यापार को छोड़ कर परमात्मा के बहुतेरे विशिष्ट गुण आ जाते हैं। अतः यहाँ आत्माशब्द परमात्मा का वाचक है और 'इव' के अर्थ में 'अ' का प्रश्लेष किया गया है। इस व्याख्या में यहाँ आत्मा शब्द की आवृत्ति की जायेगी। और वाक्य बनेगा— 'आत्मा आत्मा आभवति' अर्थात् संसार के सभी धर्मों को परमात्मा में देखने वाले मननशील का आत्मा परमात्मा जैसे गुणों वाला हो जाता है ।। श्री ।।

यहाँ गौतमशब्द का प्रयोग करके श्रुति स्पष्ट कह रही है कि— समाप्तिपर्यन्त कठोपनिषद् नचिकेता और यमराज का संवाद ही है। प्रथमाध्याय के अन्त में दो मंत्रों में कही हुई फलश्रुति केवल आत्मजिज्ञासा प्रकरण की समाप्ति की सूचना देती है न कि सम्पूर्ण ग्रन्थ की। जैसे— उपनिषदों में बहुत्र प्रकरण की समाप्ति पर फलश्रुति कही गयी है। श्रीरामचरितमानस में सुन्दरकाण्ड के मध्य में ही श्रीरामहनुमत् सम्वाद की फलश्रुति कही गयी है। यथा—

यह संवाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोई पावा।।

सौभाग्य से वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड में अन्त में ही सम्पूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति सूचित कर दी गयी हैं।

धर्मं यशस्यमायुष्यं राज्ञाञ्च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।।

—(वा०रा० १२८-१०२)

अर्थात् बहुत पहले ही महर्षि वाल्मीकि जी ने धर्ममय यशस्वी तथा युद्ध में राजाओं को विजय दिलाने वाले इस ऋषि परम्परा के आदिकाव्य की रचना कर दी थी। इससे सम्पूर्ण ग्रन्थ की समाप्ति सूचित हुई। अतः वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड को मैं निःसन्देह प्रक्षिप्त ही मानता हूँ। परन्तु ऐसी परिस्थिति इस उपनिषद् की नहीं है। तृतीय वल्ली में कहे हुए 'नाचिकेतमुपाख्यानम्' का नचिकेता के मांगे हुए तृतीय वरदान की प्राप्ति के प्रकरणविश्राम में ही तात्पर्य है। नचिकेता पर प्रसन्न होकर यमराज उन्हें तृतीय वरदान देने के पश्चात् भी उपदेश से विरत नहीं हुए। उपनिषद् की समाप्ति पर्यन्त नचिकेता को यमराज ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया।। श्री।।

।। इति कठोपनिषद् में द्वितीय अध्याय की प्रथमवल्ली पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। अथ द्वितीयवल्ली ।।

सम्बन्ध भाष्य– चतुर्थवल्ली में कई बार भगवान् के लिए पुरुषशब्द का प्रयोग किया गया। जिसका अर्थ है शरीररूप पुर में निश्चयपूर्वक शयन करने वाला परमात्मा। वह पुर क्या है? उसका स्वामी कौन है? उसके द्वारपाल कौन हैं? उसमें कितने द्वार हैं? इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यमराज पञ्चमवल्ली का प्रारम्भ करते हैं।। श्री ।।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत् ।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ग्यारह द्वारों वाले पुर को सरलचित्त परमात्मा के लिए निर्माण करके, जीवात्मा भी किसी के प्रति शोक नहीं करता तथा परमात्मा की कृपा से काम-क्रोधादि से मुक्त होकर भव-बंधन से भी विमुक्त हो जाता है।। श्री ।।

व्याख्या– यह शरीर एक पुर है। इसमें कान, आँख, नाक के दो-दो, मुख का एक, निचले दो, नाभि का एक तथा सिर के मध्य ब्रह्मरन्ध्र का एक ये मिलकर ग्यारह द्वार हैं। आत्मा महाराजा और बुद्धि महाराज्ञी हैं। मन मन्त्री है और पाँच प्राण ही इसमें पाँच द्वारपाल हैं। जब जीवात्मा वक्रचित्त वाले काम-क्रोधादि के लिए इस पुर का निर्माण करता है और इन चोर घुसपैठियों को इस दुर्ग में निवास दे देता है तब यह दुःखी हो जाता है। परन्तु जब अवक्रचेता अर्थात् सरलचित्त वाले अपने निःस्वार्थ मित्र अजन्मा परमात्मा के लिए जीवात्मा शरीर का निर्माण करता है और उन्हीं के साथ स्वयं इसमें रहता है, तब यह शोक नहीं करता और परमात्मा की कृपा से कामादि चोर भी इसका कुछ नहीं बिगाड़ पाते। जो लोग अनुष्ठाय शब्द का 'ध्यात्वा' याने ध्यान करके अर्थ करते हैं, वे व्याकरण की मर्यादा से परिचित नहीं लगते, क्योंकि अनुपूर्वक 'स्था' धातु का ध्यान अर्थ होता ही नहीं। स्वार्थी कभी-भी सरलचित्त होता ही नहीं। भगवान् स्वार्थरहित हैं। इसीलिए श्रुति उनके लिए अवक्रचेतसः शब्द का प्रयोग करती है। इसी आशय को गोस्वामी तुलसीदास जी विनयपत्रिका में बड़े कौशल से प्रस्तुत किया है। पाठकों के आनन्द के लिए वह पद प्रस्तुत किया जाता है।। श्री ।।

मैं केहि कहौं विपति अति भारी। श्री रघुवीर धीर हितकारी।।
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तँह बसे आइ बहु चोरा।।
अति कठिन करहि बर जोरा। मानहिँ नहिँ विनय निहोरा।।
तम, मोह, लागि अहँकारा। मद क्रोध, बोध-रिपु मारा।।
अति करहिँ उपद्रव नाथा। मरदहिँ मोहिँ जानि अनाथा।।
मैं एक अमित बट पारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा।।
भागेहु नहिँ नाथ उबारा। रघुनायक करहु सँभारा।।
कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिँ तस्कर तव धामा।।
चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होय तुम्हारा।।

इस प्रकार उपनिषद् के गूढ़ अर्थ को अभिनव वाल्मीकि गोस्वामी तुलसीदास की प्रतिभा ने धन्य बना दिया।। श्री।।

संगति– श्रुति ने जिस सरलचेता अजन्मा पुरुष के लिए जीवात्मा से पुरनिर्माण की बात कही वह कैसा है? क्या सामान्य व्यक्ति के लिए कृषियोग्य भूमि को कोई नगर बनायेगा। इस पर श्रुति उन परमात्मा के चौदह गुणों को गिनाती हैं।। श्री।।

हँ्सः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।।२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– वे परब्रह्म परमात्मा हंस के समान निर्मल भक्तों का क्लेशहरण करने वाले, हंसावतार तथा हंसवंश में उत्पन्न हैं। स्वयं पवित्र और पवित्र भक्तों में निवास करने वाले, धनस्वरूप तथा चराचर को अपने से निवास करानेवाले हैं। प्रभु अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में निवास करने वाले सूर्य के समान एवं श्रेष्ठ हवन करने वाले तथा यज्ञ की वेदिका पर प्रतिष्ठित होते हैं। भगवान् कलशों तथा गृहों में विराजते हैं। प्रभु मनुष्यों में निवास करने वाले एवं श्रेष्ठ देवताओं तथा मुनियों में निवास करते हैं। भगवान् ऋत् अर्थात सत्यवाणी में प्रतिष्ठित रहते हैं। परमेश्वर जल तथा पृथ्वी में भी अवतार लेते हैं। वे स्वयं ऋत् और सबसे बृहत् अर्थात् सबसे बड़े भी हैं। वे भक्त के हृदयाकाश में तथा पर्वतों में भी विराजते हैं।। श्री।।

व्याख्या– इस मन्त्र में भगवान् की चौदह विशेषताएँ कही गयी हैं। 'हंसः' परमेश्वर हंस के समान निर्मल हैं। 'हन्तीति हंसः' संस्कृत में सूर्य को

भी हंस कहते हैं। और सूर्यवंश में भगवान् का अवतार भी हुआ। 'शुचिषद्' यहाँ 'शुचि' उपपद सद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार ''अन्तरिक्षसद्' आदि में समझना चाहिए। शुचिषु सीदति इति 'शुचिसद्' भगवान् पवित्रमनवाले भक्तों में निवास करते हैं। प्रभु नारद से स्वयं कहते हैं 'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।' अर्थात् हे नारद! मैं वैकुण्ठ में सदा नहीं रहता और योगियों के हृदय में भी सदा नहीं रहता जहाँ मेरे भक्त मुझे गाते हैं मैं सदा के लिए वही स्थिर हो जाता हूँ। 'वसुः' भगवान् भक्तों के धन हैं। 'मुनि धन जन सर्वस शिव प्राना।' और भगवान् अपने में सभी प्राणियों को निवास कराते हैं इसलिए उन्हें जगन्निवास कहा जाता है। 'अन्तरिक्षसद्' भगवान् वायुरूप में निरालम्ब आकाश में भी विहार करते हैं। 'होता' परमेश्वर स्वयं हवन करके देवताओं पितरों को हव्य-कव्य से प्रसन्न करते हैं। 'दुरोणसत् अतिथि' संस्कृत में कलश और गृह को द्रोण कहते हैं। भगवान् कलश में वरुण के रूप में और गृहों में अतिथि ब्राह्मण के रूप में प्रतिष्ठा पाते हैं। 'वेदिषत्' भगवान् वेदिका पर अग्नि के रूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। 'नृसद्' भगवान् मनुष्यों में भी श्रीराम कृष्ण आदि रूपों में विराजते हैं। 'वरसद्' भगवान् सुरवरों के बीच विष्णुरूप से तथा मुनिवरों के बीच नर-नारायण रूप में विराजते हैं। 'ऋतसद्' परमेश्वर सत्यवाणी में सत्यनारायण रूप से वर्तमान हैं। 'व्योमसद्' भगवान् भक्त के हृदयाकाश में अन्तर्यामी बन कर स्थित है। 'अब्जा' प्रभु कच्छप और मत्स्य बन कर जल में भी प्रकट होते हैं। 'गोजा' सूकर नृसिंह आदि रूपों में पृथ्वी पर भी अवतार लेते हैं। 'अद्रिजा' नरनारायण के रूप में और मणिमाणिक्य बन कर पर्वत पर भी प्रकट होते हैं। 'ऋतम्' और प्रभु स्वयं सत्यस्वरूप हैं। 'बृहत्' वे सबसे बड़े हैं। जैसे— बलि के बन्धन के समय वे विराट् बन बैठे ॥ श्री ॥

संगति– शरीर में स्थित परमात्मा सांख्यदर्शन की भाँति सक्रिय है या निष्क्रिय? श्रुति इस जिज्ञासा का समाधान करती हैं ॥ श्री ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– भगवान् प्राणवायु को ऊपर ले जाते हैं और अपानवायु को नीचे प्रेरित करते हैं। यह व्याख्या पूर्वाचार्यों की हैं।

यहाँ मेरा विचार कुछ दूसरा है। वास्तव में प्राणशब्द सत्कर्म करने वाले जीवों के लिए कहा गया है और अपानशब्द पापी जीवों का वाचक है। 'सत्कर्मणा जीवति इति प्राणः' अर्थात् जो सत्कर्म करके स्वाभिमानपूर्वक जीता है वही यहाँ प्राण है। 'अपकृष्टे अनिति इति अपानः' जो निन्दित कर्म करता है उसे अपान कहते हैं। भगवान् सत्कर्म करने वाले को ऊपर अर्थात् अपने लोक में ले जाते हैं और पापकर्मा जीवों को निम्न योनियों में ढकेल देते हैं। ऐसे शुभाशुभ कर्मदाता, शरीर के मध्य विराजमान, सबके द्वारा भजनीय, अपने चरणों से विमुखों को भी कृपा करके नरक से छुड़ाने वाले, प्रभु की सभी देवता उपासना करते हैं॥ श्री॥

संगति– अब युक्ति से भी श्रुति ब्रह्म से जीवात्मा की पृथक सत्ता का निरूपण करती हैं॥ श्री॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्॥४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– विना सूचना के ही काल के द्वारा घसीट कर ले जाये जाते हुए, जराजर्जर शरीर में स्थित, सदैव क्षणभङ्गुर शरीर से जुड़े हुए, बरवश शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाते हुए, जीवात्मा का यहाँ क्या शेष रहता है केवल एक अविनाशी परमात्मारूप धन। इसे सब लोग छोड़ देते हैं। पत्नी, पुत्र, भवन, वाहन आदि सभी सम्बन्धियों से यह विदा ले लेता है केवल परमात्मा ही इसके साथ होते हैं। जैसे—

अश्वरथवाजिगज वाहन अनेक द्वार,
मनिगन धनिधान्य रहत निकेत हैं।
नारि सुकुमारि बन्धुबान्धव सखास्वजन
शवयात्रा करि फिरै करुणा समेत हैं॥
पूतहूँ सपूत यदि चिता पर धरि तनु,
नैनन सलिल भरि मुख अग्नि देत हैं।
एकहि कृपालु रामभद्र कोटि जन्म लगि,
छोड़त न जीव कहँ नित्य संग लेत हैं॥

संगति– अब जीवात्मा के जीवन परमात्मा का श्रुति संकीर्तन करती हैं॥ श्री॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– कोई भी जीव केवल पाँच प्रकार के प्राणों से अथवा चक्षुरादि इन्द्रियों से ही नहीं जीता। सभी प्राणी प्राण तथा इन्द्रियों से विलक्षण परमात्मा की सत्ता से ही जीते हैं। क्योंकि इन्द्रियों में किसी एक के न रहने पर भी जीवन रह सकता है परन्तु परमात्मा की सत्ता के विना एक क्षण नहीं टिकता॥ श्री ॥

संगति– इस प्रकार पाँच मंत्रों से जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की विवेचना करके अब सनातन परब्रह्म के विवेचना की प्रतिज्ञा की जाती हैं॥ श्री ॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे गौतमवंशी नचिकेता! अब मैं प्रसन्नता से तुम्हारे लिए इस प्रत्यक्ष दर्शन का विषय बने हुए, वेदों में गुह्य, परम गोपनीय सनातनब्रह्म का प्रवचन करूँगा। जिससे प्रारब्ध क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त करके यह प्रेत शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के सम्बन्धों और संस्कारों से ऊपर उठ कर एकमात्र भगवद्दासभूत विशुद्ध आत्मा ही हो जाता है। अर्थात् फिर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का चिन्तन करके पुनर्जन्म नहीं लेता। क्योंकि जब तक जीवात्मा का शरीरादि में अहं भाव रहता है तब तक वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़ता रहता है॥ श्री ॥

व्याख्या– अथवा यहाँ मरण शब्द कृदन्त नहीं प्रत्युत समासान्त है। 'मस्य जीवस्य अरणं-शरणं' 'म' अर्थात् जीव के अरण अर्थात् रक्षक भगवान् हैं। 'आत्मा' शब्द यहाँ चतुर्थ्यन्त आत्मने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ सुपां सुलुक् (पा०अ० ७-३-३९) सूत्र से विभक्ति को 'आच्' आदेश हुआ हैं इस व्याख्या में उत्तरार्ध का अर्थ इस प्रकार है। हे नचिकेता! अब मैं उस परब्रह्म का उपदेश करूँगा जिससे यह जीवात्मा जीवों के रक्षक परमेश्वर को प्राप्त करके परमात्मा का ही हो जाता है॥ श्री ॥

सगति– अब भगवती श्रुति जीव के कर्म फल के अनुसार गति का वर्णन करती हैं। क्योंकि दुष्कर्म के परिणामानुसार अधमयोनि में जाने वाला जीवात्मा परमार्थ का अधिकारी नहीं बन सकता॥ श्री ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो लोग देहाभिमान युक्त होते हैं। अर्थात् जिन्हें अपने देह पर अहमता ममता रहती है वे शरीरभाव के लिए ही शरीरत्याग कर फिर माँ का गर्भद्वार प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् देहाभिमान के कारण उनका भव-बंधन समाप्त नहीं होता। किन्तु जो शरीर में रह कर भी शरीर के अभिमान से रहित होते हैं वे साकेतलोक में नित्य विराजमान परब्रह्म परमात्मा श्रीराम को ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि पूर्व के कर्म और पूर्व की ग्राम्य वार्ताओं के श्रवण के संस्कार ही लोगों के मन से देहाभिमान को नहीं जाने देते और भगवद्भक्त भक्ति की महिमा से कर्मबन्धन को समाप्त कर लेते हैं और सतत् राम-कथा सुनते रहने से श्रीवैष्णवों के मन में ग्राम्य कथाओं के संस्कार आते ही नहीं। इसलिए जो लोग इस श्रुति की व्याख्या अन्यथा करने का प्रयास करते हैं वे शस्त्रीय मर्यादा से अनभिज्ञ हैं। क्योंकि अन्यशब्द स्वयं बद्धजीव से अतिरिक्त जीव का संकेत करता है।। श्री ।।

संगति– अब नचिकेता अन्तर्जिज्ञासा करते हैं कि— पूर्वमन्त्र में यह कहा गया है कि जिनके मन में ग्राम्य कथाओं के संस्कार नहीं होते ऐसे परमवैष्णव विशुद्ध आत्मभाव से स्थाणुरूप परमात्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। वे भगवान् कैसे हैं, और उनकी क्या महिमा है ? इस जिज्ञासा का समाधान करती हुई श्रुति कहती हैं।। श्री ।।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ।।८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! सभी जीवों के मोहनिद्रा में सोते रहने पर, लौकिक और पारलौकिक कामनाओं का निर्माण करके, वितरण करते हुए जो यह पुरुषार्थ पदार्थ परमात्मा सतत् जागते रहते हैं, वे ही शुक्र अर्थात् सबके पराक्रम हैं वे ही ब्रह्म हैं। वे ही मरणधर्म से रहित तथा भक्तों के लिए अमृत के समान अस्वादनीय हैं। उन्हीं में सभी लोग आश्रित हैं। उनका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह ब्रह्म है।। श्री ।।

संगति– अब अग्नि, वायु और सूर्य इन तीन उपमानों से निरुपम होते हुए भी ब्रह्म को श्रुतियाँ उपमायित कर रही हैं।। श्री ।।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।९।।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।।१०।।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकों में प्रविष्ट अग्नि एक होता हुआ भी, प्रत्येक अरण्यकाष्ठ में उपस्थित होता होता हुआ भी, बाहर स्वतन्त्र रूप में भी रहता है। उसी प्रकार जिनकी अन्तरात्मा में सम्पूर्ण प्राणी रहते हैं ऐसे परमात्मा एक होते हुए भी, अन्तर्यामी रूप से प्रत्येक शरीर में जीवात्मा के साथ रहकर भी, बाहर स्वतन्त्र रूप से रामादि रूपों में विराजमान रहते हैं। जिस प्रकार एक ही वायु देवता सम्पूर्ण भुवनों में प्रविष्ट हो करके प्रत्येक प्राणी के शरीर में प्राणादि रूप में उपस्थित रहते हुए भी, महावायु के रूप में बाहर भी रहते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा भगवान् एक होकर भी, प्रत्येक प्राणी के शरीर में रहकर भी, बाहर स्वतन्त्र रूपवान् होकर भी विराजते हैं। यहाँ दोनों मन्त्रों में भवति के अर्थ में ही बभूव का प्रयोग हुआ है। 'रूपः' शब्द मत्वथीय अच् प्रत्ययन्त है। इसका अर्थ है रूपवान् है। इन दोनों उदाहरणों से श्रुति ने परमेश्वर की रूपशून्यता का निषेध किया है। भगवान् अग्नि, वायु के सामान ही सभी के भीतर और बाहर विराजते हैं। परन्तु आकारवान् होकर भी अन्य प्राणियों की भाँति परमेश्वर शरीर के दुःखों से लिप्त नहीं होते। इसी तथ्य को सूर्य की उपमा से और स्पष्ट किया जा रहा है। जिस प्रकार सारे संसार के चक्षु सूर्य नारायण चक्षु-इन्द्रिय से परे होने के कारण नेत्र के दोषों से लिप्त नहीं होते उसी प्रकार सभी प्राणियों के अन्तर्यामी भगवान् लोक में रह कर भी लोक के दुःखों से लिप्त नहीं होते। क्योंकि वे लोक में रह कर भी लोक से बाहर हैं।। श्री ।।

संगति– अब दो मन्त्रों से ब्रह्म का चमत्कार कहते हैं।। श्री ।।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो परमात्मा अद्वितीय हैं, सबको वश में करने वाले हैं, जो सभी प्राणियों के अन्तर में व्याप्त हैं तथा जो अपने

एक ही श्रीविग्रह को भक्तों की भावना के अनुसार अनेक विध बना लेते हैं। जैसे महारास के समय आत्माराम होकर भी अपनी लीला से अप्रमेय आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने जितनी ब्रज गोपिकाएँ थीं उतनी ही संख्या में स्वयं को प्रस्तुत करके उनके साथ रमण किया था। ऐसे जीवात्मा के साथ प्रत्येक प्राणी में नित्य विराजमान, अलौकिक सामर्थ्य सम्पन्न, उन परमात्मा को जो धीरपुरुष अनुकूलता से अनुभव द्वारा अनुक्षण नेत्र का विषय बना कर निहारते रहते हैं उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है। अन्य भगवद्विमुखों को नहीं ।। श्री ।।

संगति– नचिकेता फिर पूछते हैं— प्रभो! आप श्री ने भगवान् का दर्शन करने वालों को शाश्वत सुख का विधान कहा। परन्तु यदि जीव ही नाशवान् हैं तो उसे शाश्वत सुख मिलेगा कहाँ से? और यदि जीव की सत्ता है ही नहीं तो फिर आपके वचन में प्रामाणिकता ही नहीं रह जायेगी। इस पर यमराज कहते हैं—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! कौन ऐसा मन्द बुद्धि है जो जीवात्मा को नाशवान कहता हैं? वस्तुतः जीवात्मा नित्य हैं और बहुत हैं। यदि एक ही जीवात्मा होता तो एक के मरने से सबका मरण, एक के जन्मने से सबका जन्म तथा एक के मुक्त होने से सबकी मुक्ति और एक के बन्धन से सबका बन्धन हो जाता है। इसलिए शास्त्र और व्यवहार दोनों से यह सिद्ध है कि— जीव की सत्ता ब्रह्म की सत्ता से पृथक है। जो परमेश्वर नित्य है, नित्य जीवों के शाश्वत सम्बन्धी हैं, जो चेतना की घनीभूतरूप होकर चेतन जीवात्माओं के शाश्वत स्मरणकर्त्ता हैं, जो अनेक जीवात्माओं के अनेक अभिलषित मनोरथों को पूर्ण करते हैं, जो एक हैं, ऐसे जीवों के त्रिकालसम्बन्धी परमात्मा को आत्मा के साथ वर्तमान अथवा आत्मा के समीप अन्तर्यामी रूप में, जो धीर लोग भेदभक्ति से साक्षात्कार करते हैं उन्हीं को शाश्वतशान्ति मिलती हैं। अभेदवादी और भगवद्विमुखों को नहीं। अद्वैतवादरूप महापर्वत के लिए यह मन्त्र स्वयं वज्र है। यहाँ परमात्मा के साथ प्रथमा तथा जीवात्मा के साथ षष्ठी प्रयोग करके परमात्मा के साथ एकवचन एवं जीवात्मा के साथ बहुवचन का तीन बार प्रयोग करके श्रुति ने स्पष्ट कर दिया कि— तीनों कालों में तीनों लोकों में तीनों देवता भी मिल कर जीवात्मा का परमात्मा के साथ स्वरूपतः अभेद नहीं सिद्ध कर सकते। जो

लोग 'नित्यो नित्यानां' पद में अकार का प्रश्लेष मानकर, किसी प्रकार जीव की अनित्यता बता कर अश्रु परिमार्जन करना चाहते हैं वास्तव में वे अनर्गल प्रलापी हैं। क्योंकि श्रुति को अकार का प्रश्लेष इष्ट होता तो वह 'चेतनः चेतनानाम्' कह कर विसर्गमूलक पाठ क्यों मानती। इसलिए यहाँ अकार प्रश्लेष श्रुति को स्वयं मान्य नहीं है ॥ श्री ॥

संगति– अब ब्रह्मनिरूपण सुन कर नचिकेता फिर जिज्ञासा करते हैं ॥ श्री ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– नचिकेता कहते हैं— हे भगवन्! जिस ब्रह्म को आपने अभी तक भिन्न-भिन्न रूपों से निरूपित किया और जिसको आप निर्देश से परे तथा परमसुखस्वरूप मानते हैं, उस ब्रह्म को मैं बालक कैसे समझूँ ? क्या वह सर्वत्र प्रकाशमान रहता है अथवा किन्हीं विशिष्ट साधकों के समक्ष ही प्रकाशित रहता है। यदि विशिष्टाद्वैतवादी विशिष्ट साधकों के समक्ष ही प्रकाशित होता है तो हम जैसे बालकों की क्या चर्चा ॥ श्री ॥

संगति– इस प्रकार जिज्ञासा करते हुए नचिकेता को परिसान्त्वना देते हुए यमराज कहते हैं—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यमराज कहते हैं— हे नचिकेता! उस परमात्मा के विषय में तो सूर्य भी नहीं प्रकाशित कर सकते, न ही चन्द्रमा, न ही तारे और न ही ये चमकती हुई बिजलियाँ वहाँ प्रकाशित होती हैं। यह हमारे घर का अग्नि अर्थात् दीपक वहाँ कैसे प्रकाशित होगा। उसी ब्रह्म के प्रकाशित होने पर ये सम्पूर्ण सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् अग्निमय प्रकाशकपुंज प्रकाशित हो रहे हैं और उस ब्रह्म के प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च प्रकाशित है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों के समक्ष प्रकाशित होता है और भक्तों के समक्ष विशेष प्रकाशित होता है ॥ श्री ॥

जगत् प्रकाश प्रकाशक रामू। मायाधीश ग्यानगुन धामू ॥

॥ इति श्री कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की द्वितीयवल्ली पर
श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पन्न हुआ ॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु ॥

●

।। अथ तृतीयवल्ली ।।

सम्बन्ध भाष्य– ब्रह्मविवेक के समय संसार की निःसारता का ज्ञान परम आवश्यक है। संसार में आसक्तचित्त वाला व्यक्ति इस मरुमरीचिका में झूठे सुखों की खोज करता हुआ वन में हरिण की भाँति मर रहा है। इसलिए इस संसार को वृक्ष से रूपित करके उसे काटने हेतु परब्रह्म श्रीराम से ही प्रार्थना करने के लिए परमकारुणिक भगवती श्रुति इस वल्ली का प्रारम्भ करती हैं।। श्री।।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन्।। एतद्वै तत्।।१।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यह संसार प्रवाहरूप में सनातन है, वस्तुतः स्वरूप से क्षणभङ्गुर है इसलिए इसे श्रुति अश्वत्थ कह रही है। न स्वः तिष्ठति। अर्थात् जो कल तक भी स्थिर नहीं रह सकता ऐसा यह एक पीपल का वृक्ष है, छन्द ही इसके पत्ते हैं, प्रकृति ही इसका आलवाल अर्थात् थाला है, वैष्णवधाम ही इसका मूल है। इसकी शाखाएँ नीचे फैली हुई हैं। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इसके तने हैं। विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इसके नये-नये पल्लव हैं। शुभ और अशुभ इसके दो फल हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुसुप्ति, तुरीया इसके चार स्वाद हैं। जन्म-मरण, सत्ता परिवर्तन, ह्रास और विनाश ही इसकी मोटी-मोटी छः डालियाँ हैं। सात धातुएँ ही, इसकी सात छाले हैं, भूमि आदि आठों प्रकृतियाँ ही इसकी आठ बड़ी शाखाएँ हैं। शरीर के नौ द्वार ही इसके नौ कोण हैं। ब्रह्म और जीवरूप दो पक्षी इस पर बैठे हैं। वह वृक्ष जिसके द्वारा काटा जाता है वही शुद्ध परब्रह्म अमृत कहा जाता है। सभी लोग उसमें समर्पित हैं। उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। इस कठोपनिषद् के मन्त्रार्थ को गीता एवं मानस में भी सुन्दर रीति से व्याख्यायित किया गया है।। श्री।।

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदो द्विखगो ह्यादिवृक्षः।।

—(भा० १०-२-२७)

यह संसार क्या है ? एक सनातन वृक्ष। इस वृक्ष है का आश्रय है— एक प्रकृति, इसके दो फल हैं— सुख और दुःख, तीन जड़े हैं— सत्व, रज और तम, चार रस हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसके जानने के पाँच प्रकार हैं— श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका। इसके छः स्वभाव हैं— पैदा होना, रहना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट हो जाना। इस वृक्ष की छाल है सात धातुएँ— रस, रुधिर, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र। आठ शाखायें हैं— पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार। इसमें मुख आदि नवों द्वार खोड़र हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्राण ही इसके दस पत्ते हैं। इस संसार रूप वृक्ष पर दो पक्षी हैं— जीव और ईश्वर॥ श्री॥

अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम घने।
षटकंध शाखा पंच बीस अनेक पर्ण सुमन घने॥
फल जुगल विधिकटुमधुर वेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार विटप नमामहे॥

—(मा० ७-१३-५)

वेदशास्त्रों ने कहा है कि— जिसका मूल अव्यक्त (प्रकृति) है, जो (प्रवाह रूप से) अनादि है; जिसके चार त्वचाएँ, छः तने, पच्चीस शाखाएँ और अनेक पत्ते और बहुत से फूल हैं, जिसमें कडुवे और मीठे दो प्रकार के फल लगे हैं, जिस पर एक ही वेल हैं, जो उसी के आश्रित रहती हैं, जिसमें नित्य नये पत्ते और फूल निकलते रहते हैं; ऐसे संसार वृक्ष स्वरूप (विश्वरूप में प्रकट) आपको हम नमस्कार करते हैं॥ श्री॥

संगति– इसी भक्ति के संसार को जो काटता है ऐसे परमात्मा के स्वरूप का निवर्चन करता है॥ श्री॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! प्रत्यक्ष में दिखाई पड़ने वाला जो कुछ भी यह जगत् है वह इस ब्रह्म की सत्ता में ही सक्रिय हो रहा है और यह मारने के लिए प्रस्तुत वज्र के समान अत्यन्त भयंकर है। ऐसे ब्रह्म को जो जानते हैं वे अमृत अर्थात् मरणधर्म से रहित हो जाते हैं। यह व्याख्या प्राचीन व्याख्याकारों के अनुरोध से की गयी है। यहाँ मेरी

व्याख्या इस व्याख्या से विलक्षण है क्योंकि ब्रह्म अभय है ऐसा श्रुति कहती हैं। 'अभयस्य पारं' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'। इसलिए ब्रह्म को मारने के लिए 'उद्यत बज्र के समान भयंकर' कहना उपयुक्त नहीं लगता॥ श्री॥

प्रश्न- यदि ब्रह्म भयंकर नहीं है तो फिर श्रुति ने कैसे कह दिया— 'भयादस्याग्निस्तपति'।

उत्तर- वहाँ अनुशासनात्मक भय का वर्णन है, वास्तविक भय का नहीं। यदि वहाँ वास्तविक भय का वर्णन होता तब वहाँ श्रुति 'अस्य' के स्थान पर 'अस्मात्' का वर्णन करती। कयोंकि पाणिनीयव्याकरण में भयार्थक और रक्षार्थक धातुओं का प्रयोग होने पर भय के हेतु अर्थात् उत्पन्न करने वाले को अपादान कहा जाता है और अपादान में पंचमी हो जाती है। 'भीत्रार्थानाम् भयहेतु:' (१-४-२८ पा०अ०)। जैसे— 'चौराद्बिभेति' 'पापाद्रक्षति' यहाँ चोर और पाप ये दोनों भय के हेतु हैं— इसलिए यहाँ पंचमी हुई। किन्तु भगवान् भय के हेतु नहीं हैं। इसलिए यहाँ श्रुति ने 'अस्मात्' के स्थान पर 'अस्य' का प्रयोग किया। इस दृष्टि से मन्त्र के उत्तरार्ध में प्रयुक्त तीनों पद जगत् के विशेषण हैं। इस दृष्टि से अब अर्थ परवर्तित हो जायेगा। इसका अर्थ होगा कि— प्रत्यक्ष में दिखने वाला जो कुछ भी यह जगत् है यह परमात्मा के पास से ही निकलकर आया है। यह मारने के लिए उठाये हुए वज्र की भाँति महापुरुषों को भी भय देने वाला है। इस प्रकार जो जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं क्योंकि इस संसार को भयंकर जान कर इसके प्रपञ्च में नहीं पड़ते। और इसे भगवान् से निकला हुआ जान कर उन्हीं की शरण में चले जाते हैं। यहाँ यह भी ध्यान देना चाहिए— जो लोग 'वज्र' शब्द को भगवान् का विशेषण मानते हैं वे यह क्यों नहीं समझते कि वज्र भगवान् की विभूति है, भगवान् नहीं। 'आयुधानामहं वज्र:' (गीता- १०-२८)। और उन्हें यह भी समझना चाहिए कि महर्षि दधीचि की हड्डी से बने हुए वज्र को भगवान् का उपमान बना कर क्या वे अच्छा कर रहे हैं? वस्तुत: 'वज्र' शब्द जगत् का ही विशेषण उचित है। क्योंकि जगत् कर्म से निर्मित है और वज्र भी कर्म करने वाले हाथ के देवता इन्द्र का आयुध है॥ श्री॥

संगति— परमात्मा के भय से कौन-कौन देवता प्रभावित होते हैं। इस पर श्रुति कहती हैं॥ श्री॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इन परमात्मा के भय से अग्निदेव तपते हैं, अपनी दाहकता नहीं छोड़ते। नहीं तो अपने मन के होकर कभी शीतल हो जाते। भगवान् के भय से ही सूर्य नारायण तपते हैं अर्थात् समय से उदित होकर जगत् को प्रकाशित करते हैं। नहीं तो स्वच्छन्द होकर कभी न उदित होते और चौबीसों घंटे रात्रि ही बनी रहती। भगवान् के भय से ही इन्द्र यथासमय वर्षा करते हैं और भगवान् के भय से ही वायु देवता बहा करते हैं और भगवान् के भय से भयभीत होकर अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु तथा मृत्यु इनमें से पाँचवां अर्थात् मृत्यु देवता निष्प्रमत्त होकर अपने कार्यों में दौड़ता रहता है। अथवा 'पंच मीनाति इति पंचमः' जो पाँचों महाभूतों को भी मार डालता है ऐसा मारणधर्मा काल भी भगवान् के भय से दौड़ता रहता है। अर्थात् भगवान् की इच्छा के विना उनके भक्तों को काल भी नहीं मार सकता।। श्री ।।

व्याख्या– रसिक पाठकों के आनन्द के लिए ये पाँचों उदाहरण श्री रामकथा के फलक पर सिद्ध किये जा रहे हैं। **अग्नि–** भगवान् से अग्नि का भय- हनुमान जी के द्वारा लङ्का में अग्नि लगाये जाने पर लंका का सब कुछ भष्म हो गया परन्तु उसी लंका में भ्रमण करने वाले श्रीहनुमान् जी की पूँछ का एक रोम भी नहीं जला। अतः हनुमान जी ने अग्नि को जलते हुए देखा— 'पावक जरत देख हनुमन्ता।' क्योंकि उन्हें अग्नि की शीतलता का अनुभव हुआ। इसीलिए शिव जी ने पार्वती जी से झुँझलाकर कहा—

ताकर दूत अनल जेहि सिरजा। जरा न सो तेहि कारन गिरिजा।।

—(मा०५-२६-७।)

सूर्य– सूर्य भी भगवान् से डरते हैं। जैसे—

रवि तप जितने काज।

—(मानस ७-२३)

इन्द्र– इन्द्र भी श्रीरामराज्य में लोगों की आवश्यकतानुसार ही जलवृष्टि करते हैं।

मांगे वारिद देहि जल रामचन्द्र के राज ।।

—(मानस ७-२३)

वायु– भगवान् के भय से ही लंकादहन के समय रावण के बन्दी बने हुए वायु देवता भी रावण का ही नगर जलाने के लिए उन्चास गुणों के साथ प्रकट हुए थे।

'हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उन्चास ।।'

—(मा० ५-२४)

मृत्यु– भगवान् के डर से मृत्यु भी डरता है। इसीलिए लंका का मुख्य पहरेदार होकर भी काल हनुमान जी का बाल भी बाँका नहीं कर सका।

उमा न कछु कपि कै अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ।।

—(मानस- ५-३-९)

संगति– अब ब्रह्मबोध की आवश्यकता और ब्रह्मज्ञान अभाव की परिस्थिति में विपरीत परिणाम का संकेत करते हैं।। श्री ।।

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र की व्याख्या में प्राचीन आचार्य कहते हैं कि— शरीर के नष्ट होने के पहले-पहले इसी जीवन में यदि साधक भगवान् को जानने में समर्थ हो गया तब तो ठीक, नहीं तो कर्मफलों के द्वारा बने हुए ऊँचे-नीचे सभी चौदहों लोकों में शरीरभाव को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के विना जीव का आवागमन होता है। वस्तुतः यह व्याख्या अनुकूल नहीं लगती, क्योंकि कोई भी शास्त्र व्याकरण के नियमों को तोड़ कर अपना शास्त्रत्व सुरक्षित नहीं रख सकता। जबकि यह वेदान्तशास्त्र वेदमन्त्रों के अक्षरार्थ विचार के लिए प्रवृत्त हुआ है। अर्थ शब्द के अधीन होता है। व्याकरण वेद का मुख है। 'मुखं व्याकरणं प्रोक्तम्।' इसलिए पूर्वव्याख्या में वर्णित वाक्यभेद और वरम् और अन्यथा शब्द का अध्याहार, यह कल्पना गौरव होगा। क्योंकि मन्त्र के अक्षरों में ऐसा कुछ नहीं है। आइये– बिना वाक्यभेद किये निरर्थक दो शब्दों के अध्याहार के बिना ही यहाँ हम एक नया अर्थ प्रस्तुत करते हैं— 'सृज्' धातु का अर्थ प्रयत्न है। अर्थात् गुणों का आधान करना ही सृज् धातु का उद्देश्य है। जिन लोकों में भगवान् की सेवा के लिए

उपयोगी गुणों का भक्तों में आधान किया जाता है वे ही वैकुण्ठ साकेत, गोलोक हैं। यहाँ सर्ग लोक नाम से कहे गये हैं। अर्थात् यदि इसी जीवन में शरीर छूटने के पहले ही साधक ब्रह्म को जानने में समर्थ हो गया यानि भगवान् को अपने सेव्य के रूप में पहचान लिया तब वह वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक में भगवान् की सेवा में उपयुक्त दिव्य, पवित्र शरीरभाव के लिए योग्य हो जाता है। अर्थात् भगवान् अपनी सेवा के लिए उसे अनुकूल शरीर दे देते हैं॥ श्री॥

संगति– अब नचिकेता शङ्का करते हैं कि— इसी जीवन में ब्रह्मज्ञान क्यों आवश्यक है ? वह दूसरे लोकों में भी प्राप्त किया जा सकता है। इस शंका का समाधान करते हुए यमराज कहते हैं॥ श्री॥

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जिस प्रकार दर्पण में अपना मुख दीखता है उसी प्रकार आत्मा अर्थात् अपने मनोमन्दिर में भगवान् के स्पष्ट दर्शन होते हैं और जगने पर उसका बाध हो जाता है अर्थात् न जाने वह कहाँ चला जाता है उसी प्रकार पितृलोक में भी भगवान् के दर्शन होते हैं परन्तु वहाँ स्थिरता नहीं होती। जिस प्रकार चञ्चलजल में अपना प्रतिबिम्ब चञ्चल दीखता है, उसी प्रकार गन्धर्वलोक में भगवान् अप्सराओं तथा गन्धर्वों के नृत्य-गीत से चंचलित मन वाले लोगों को भगवान् के चंचल दर्शन ही होते हैं। ब्रह्मलोक में छाया और आतप की भाँति जीवात्मा और परमात्मा सेवक-सेव्य के रूप में दिखते हैं। अर्थात् अपने मनोमन्दिर एवं ब्रह्मलोक दोनों में ही भगवान् के स्पष्ट दर्शन होते हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञान के बिना ब्रह्मलोक दुष्प्राप्य है। इसलिए साधक को इसी मृत्युलोक में ही ब्रह्मज्ञान का यत्न करना चाहिए क्योंकि मृत्युलोक ही कर्मलोक है और सभी भोगलोक है॥ श्री॥

संगति– ब्रह्म में इन्द्रियों का प्रवेश नहीं होता है। इसी बात को अगले मन्त्र में स्पष्ट करते हैं—

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– प्राय: जैसे दूध से पानी को अलग करना कठिन है उसी प्रकार साधारण व्यक्ति के लिए अनात्मभूत शरीर, इन्द्रिय,

मन तथा बुद्धि में आरूढ़ आत्मभाव को आत्मा से अलग करना बहुत कठिन है। इन्द्रियाँ परमात्मा से पृथक उत्पन्न हुई हैं। हमारा शरीर भी आत्मा नहीं है। जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों की प्रवृत्ति तथा सुसुप्ति में इन्द्रियों की अपने-अपने व्यापार से निवृत्ति, ये सभी कुछ आत्मा से अलग हैं। क्योंकि जब इन्द्रियां जगती हैं तो आत्मतत्व सो जाता है और जब इन्द्रियां सोती हैं तो आत्मतत्व सक्रिय हो जाता है। इस प्रकार धीर पुरुष इन्द्रियों को परमात्मा से पृथक स्थित मान कर उनमें अनात्म बुद्धि करके धीर पुरुष शोकसागर से तर जाता है। जैसे मेरा एक श्लोक—

अहं नो शरीरं हृषीकाणि नाहं
मनो नैव नाहं न बुद्धिर्न चेतः।
हरेर्दासभूतो विशुद्धोऽन्तरात्मा
सदा राघवीयो जनोऽहं-जनोऽहम्॥

संगति– अब दो मन्त्रों से परमात्मा का इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा की अपेक्षा भी परत्व कह कर परमात्मा के ज्ञान के लिए नचिकेता को प्रेरित करते हैं॥ श्री॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– कुछ लोग शरीर को ही आत्मा मान कर सेवा करते हैं, कुछ लोग मन को तथा कुछ लोग बुद्धि को। इनसे अतिरिक्त कुछ लोग आत्मा को ही परमात्मा मान कर मिथ्या प्रलाप करते हैं। अर्थात् अभेदवाद का ढोंग रचते हैं। इस पर श्रुति कहती है— आत्मा और परमात्मा का स्वरूपतः भेद ही नहीं बल्कि इन दोनों के बीच में अव्यक्त के रहने से इनका व्यवधानसहकृत स्वरूपतः भेद है। इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से शुद्ध सत्त्वप्रधान सत्त्वनाम वाली बुद्धि उत्तम है। बुद्धि से भी महान् आत्मा श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। आत्मा से श्रेष्ठ है अव्यक्तनाम वाली भगवान् की माया। अव्यक्त योगमाया से भी परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ हैं। वे व्यापक हैं। उनकी अपेक्षा इन्द्रियादि आत्मपर्यन्त पदार्थ व्याप्य

हैं। वे अलिङ्ग अर्थात् सूक्ष्मशरीर से रहित तथा शब्दादि से भी अबोध्य हैं। जिन परमात्मा को जान कर जीव संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है और मरणधर्मरहित परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।। श्री।।

संगति– अब ब्रह्म की व्यापकता तथा सामान्यजनगोचरता का निराकरण करते हैं। अर्थात् ब्रह्म को सामान्य लोग सामान्य साधना से नहीं जान पाते।। श्री।।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य,
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।।९।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! यह सामान्य लोगों के नेत्रों का विषय नहीं बनता। अथवा इस ब्रह्म का रूप दर्पण में नहीं दिखाई पड़ता। और इसको कोई अपने नेत्र से नहीं देख पाता। फिर वह कैसे दिखाई पड़ता है? इस पर कहते हैं— भक्तिपूरित हृदय से संकल्प करके विशुद्ध बुद्धि से अध्यवसाय करके निर्मल चित्त से ब्रह्म का चिन्तन किया जा सकता है। जो इसे जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं।। श्री।।

संगति– अब दो मन्त्रों से ब्रह्म दर्शन में अपेक्षित योगसिद्धान्त की चर्चा करते हैं। क्योंकि श्रुतियाँ ही समस्त शास्त्रों की मूल हैं।। श्री।।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।१०।।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।।११।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता! जिस समय मन के साथ नेत्र, श्रवण, रसना, घ्राण और त्वक् से पाँच इन्द्रियाँ अपने व्यापारों से विरत हो जाती हैं एवं बुद्धि कोई चेष्टा नहीं करती इसी अवस्था को वेदान्ती परमगति कहते हैं और इसी स्थिर इन्द्रियों की धारणा को योगी लोग योग मानते हैं। इस अवस्था को प्राप्त करके साधक प्रमादरहित हो जाता है। क्योंकि योग भगवत्साक्षात्कार में साधक है और भगवत् विरोधी भावों का बाधक है।। श्री।।

संगति– अब आस्तिकमत का मण्डन करते हुए काकुवक्रोक्ति से ब्रह्म का समर्थन करते हैं ।। श्री ।।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।।१२।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता। वह ब्रह्म वाणी और उससे उपलक्षित कर्मेन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता और न ही मन, बुद्धि और चित्त से प्राप्त किया जा सकता है। और न ही वह ब्रह्म चक्षुरादि इन्द्रियों का विषय बन सकता है। भला वह ईश्वर है— इस प्रकार कहते हुए आस्तिक के अतिरिक्त अन्यत्र वह कहाँ उपलब्ध होगा ? अर्थात् परमेश्वर है ऐसा मानकर विश्वासपूर्वक आस्तिक बुद्धि से साधना करने पर प्रभु अपनी कृपा से ही दर्शन दे सकते हैं। उनकी इच्छा के बिना अपने पुरुषार्थ से जीव उन्हें नहीं प्राप्त कर सकता ।। श्री ।।

संगति– अब परमात्मा की प्राप्ति में श्रद्धा तथा ज्ञान की अनिवार्यता कहते हैं ।। श्री ।।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ।।१३।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता ! ईश्वर है, इस प्रकार विश्वास करके भक्ति द्वारा ब्रह्म को उपलब्ध कर लेना चाहिए। इसके अनन्तर तत्वभाव अर्थात् ज्ञान से ब्रह्म का विचार करना चाहिए। क्योंकि भक्ति और ज्ञान इन दोनों में भक्ति द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लेने पर उनका ज्ञान हृदय में स्वयं भाषित हो जाता है। इसलिए तर्क न करके पहले आस्तिक बुद्धि से ईश्वर की आराधन करनी चाहिए। वास्तव में सगुण ब्रह्म भक्तिपूर्ण हृदय से तथा निर्गुण ब्रह्म ज्ञानपूर्ण मस्तिष्क से प्राप्त किया जाता है ।। श्री ।।

संगति– ब्रह्म कब मिलता है ? इस पर यमराज कहते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।।१४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब साधक के मन में स्थित सभी इच्छाएँ और संकल्प समाप्त हो जाते हैं उसी समय मरणधर्मा मनुष्य जन्म-मरण के

प्रपञ्च से रहित हो जाता है। और इसी शरीर में वह मौथिलानी और व्रजांगनाओं की भाँति श्रीराम एवं श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित ब्रह्मसुख का समास्वादन करता है ॥ श्री ॥

संगति– अब अनुशासन का उपसंहार करते हुए ग्रन्थिभेद की चर्चा करते हैं ॥ श्री ॥

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥१५॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जब मनुष्य के हृदय में स्थित सभी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं उसी समय मनुष्य मरणधर्म से रहित हो जाता है। हे नचिकेता ! तुम्हारे लिए इतना ही अनुशासन है ॥ श्री ॥

संगति– अब परलोक की प्राप्ति में सहायक नाड़ियों की विलक्षणता का वर्णन करते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता ! मनुष्य के हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ होती हैं। उनमें सुसुम्ना नाड़ी हृदय से लेकर सिर के मध्य से निकली होती है। उसी नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करके ऊपर जाता हुआ प्रेत अमृतत्व अर्थात् परब्रह्म को प्राप्त करता है और नाड़ियाँ उसके उत्क्रमण अर्थात् परलोकगमन में सहायक बनती हैं ॥ श्री ॥

संगति– अब ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए यमराज बड़े आदर से ब्रह्म का अभ्यास अर्थात् उपदेश करते हैं ॥ श्री ॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा,
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे नचिकेता ! अन्तर्यामी परमपुरुष परमात्मा अँगूठे जितना आकार धारण करके निरन्तर मनुष्यों के हृदय में विराजमान रहते हैं। जिस प्रकार मूँज से सरकण्डे को अलग कर दिया जाता है

उसी प्रकार धैर्य का अवलम्बन लेकर अपने शरीरधर्म से ब्रह्म को पृथक कर लेना चाहिए। उन्हीं कर्मबन्धनरहित तथा अमृतस्वरूप परमात्मा को अपने सेव्य के रूप में जानना चाहिए। उन्हीं को अपने स्वामी के रूप में जानना चाहिए। उपदेश की समाप्ति की सूचना के लिए द्विरुक्ति की गयी है ।। श्री ।।

संगति– अब ग्रन्थ में प्रवृत्ति के लिए यमराज फलश्रुति की प्रतिज्ञा करते हैं ।। श्री ।।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ।।१८।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार यमराज द्वारा कही हुई सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या एवं सम्पूर्ण योगविधि प्राप्त करके नचिकेता मृत्युरहित तथा संसार की रजोमयवासना से रहित हो गये और उन्हें परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार भी हो गया। इस प्रकार यदि कोई अन्य भी इस अध्यात्मसाधन का अभ्यास करे तो उसे भी ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है ।। श्री ।।

हे राघव महेश्वास राम राजीवलोचन।
मम प्रार्थयमानस्य भव लोचनगोचरः ।।
आद्य रामानन्दाचार्यसम्मत विशिष्टाद्वैत-
वाद-निर्विवाद करि यतन बखान्यो मैं।
मुक्ति युक्ति उपपत्ति कलित प्रपत्ति मत,
श्रुतिसुधासार को सकेलि रस सान्यो मैं।।
पूर्वपक्ष उत्तर स्वपक्ष भाव भंगिमा से,
कठोपनिषदि भाव रस में लुभान्यो मैं।।
राघवकृपाभाष्य करि यापे रामभद्राचार्य,
रामभद्र हाथ बिन मोल ही विकान्यो मैं।।

।। इति श्रीचित्रकूटपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दचार्य प्रणीत श्रीकठोपनिषद्
का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण हुआ ।। श्री ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

।। श्रीः ।।

ध्रुवमिदं, विश्वस्य विश्वेऽपि विचरकाश्चामनन्ति यज्जीवेनात्यन्तिकं सुखं नोपलब्धुं शक्यते केवलैः सांसारिकैर्भोगैः। तत्कृते तु तैः जगन्नियन्तुः परमात्मनः शरणमेवाङ्गीकरणीयम्। अनादिकालादेव सर्गेऽस्मिन् ब्रह्मजिज्ञासासमाधानपराः विचाराः प्रचलन्ति। विषयेऽस्मिन् सर्वे दार्शनिकाः सहमता यद्वेदैरेवास्य गूढरहस्यात्मकस्य परब्रह्मणः प्रतिपादनं सम्भवम्।

परब्रह्मणो निश्वासभूता अनन्तज्ञानराशिस्वरूपाः वेदाः ज्ञानकर्मोपासनाख्येषुत्रिषु काण्डेषु विस्कृताः सन्ति। एषां ज्ञानकाण्डाख्य उपनिषद्भागे वेदान्तापरनामधेया ब्रह्मविद्या वैशद्येन विर्वोचता व्याख्याता चास्ति। आसामुपनिषदां सम्यग्ज्ञानेनैव ब्रह्मज्ञानं तेन च भवदुःखनिवृत्तिरित्युपनिषदां सर्वातिशायिमहत्वं राद्धान्तयन्ति मनीषिणः। आसु प्रश्नोत्तरात्मकातिरमणीयसुमम्यसरलशैल्या जीवात्मपरमात्मनोर्जगतश्च विस्तृतं व्याख्यानं कृतमस्ति। अनेकैर्महर्षिभिरनेकैः प्रकारैरुद्भावितानां ब्रह्मविषयकप्रश्नानां समाधानानि ब्रह्मवेतृणां याज्ञवल्क्यादिमहर्षीणां मुखेभ्य उपस्थापयन्त्युपनिषदः। भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु भगवता श्रीकृष्णेन च श्रीगीतायामासामेव सारतत्वं प्रतिपादितम्।

भारतीयदर्शनानामाधारभूता इमे त्रयो ग्रन्थाः विभिन्नसम्प्रदायप्रवर्तकैराचरयैर्व्यख्याताः। एष्वद्वैतवादिन आद्यशङ्कराचार्याः प्रमुखा, अन्ये च द्वैतशुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतशिवाद्वैतदिवादिनो विद्वांसः स्वस्वमतानुसारमुपनिषदः व्याख्यापयांबभूवुः।

अथ साम्प्रतिकभारतीयदार्शनिकमूर्धन्यैर्वेदवेदाङ्गपारङ्गतैर्धर्मध्वजधारिधौरेयैः श्रीरामानन्दाचार्यैः श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजैर्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमनुसृत्य कृतामिदमुपनिषदां **''श्रीराघवकृपाभाष्यम्''** सर्वत्रैवाभिनवविचारैर्व्युत्पत्तिभिश्चालङ्कृतं विभाति। भाष्येऽस्मिन्नाचार्यचरणैः शब्दव्युत्पत्तिचातुरीचमत्कारेण सर्वोपनिषदां प्रतिपाद्यः भगवान् श्रीराम एवेति सिद्धान्तितम्। मध्ये मध्ये गोस्वामिश्रीतुलसीदासग्रन्थेभ्यः ससंस्कृतरूपान्तरमुदाहृता अंशविशेषासुवर्णे सुरभिमातन्वन्ति। श्रीराघवपदपद्ममधुकराः भक्ता अत्रामन्दानन्दमाप्नुयुरिति भगवन्तं श्रीराघवं निवेदयति।

डॉ. शिवरामशर्मा
वाराणसी